SWAMI VIVEKANANDA

·The Hindoo Monk of India·

मासिक

विवेक-ज्योति

वर्ष ३७, अंक ५

मई १९९९

मूल्य रु. ५.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

अधिक जानकारी के लिए लिखें : रामकृष्ण मठ (प्रकाशन विभाग) धन्तोली, नागपुर (महाराष्ट्र) ४४० ०१२

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मई, १९९९

प्रबन्ध-सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द

वार्षिक ५०/- | वर्ष ३७ अंक ५ | एक प्रति ५/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ७००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २२५२६९, ५४४९५९, २२४११९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(चौथी तालिका)

१५१. श्री किशोर शंकर पत्की, नागपुर (महा.)
१५२. श्री हरि नारायण पाण्डेय, नेहरू नगर, भोपाल (म.प्र.)
१५३. डॉ. कणिका त्रिवेदी, लक्ष्मीबाई रोड, मैसूर (कर्नाटक)
१५४. श्री पृथ्वीराज शर्मा, ठण्डी, श्रीगंगानगर (राजस्थान)
१५५. श्रीमती कमलादेवी अग्रवाल, मिशन रोड, कोरबा (म.प्र.)
१५६. श्री ब्रजभूषण भट्ट, उषागंज, इन्दौर (म.प्र.)
१५७. डॉ. वी. पी. बंसल, सपना संगीता रोड, इन्दौर (म.प्र)
१५८. श्री. बी. एस. पमनानी, विनोबानगर, बिलासपुर (म.प्र.)
१५९. श्रीमती विद्या साहू, छोटी करेली, धमतरी (म.प्र.)
१६०. श्री केशव चन्द्राकर, नारायणपुर, बस्तर (म.प्र.)
१६१. डॉ. बी. टी. आडवानी, कामठी, नागपुर (महाराष्ट्र)
१६२. श्रीमती सन्तोष दत्ता, नागपुर (महाराष्ट्र)
१६३. श्री अरुण कुमार अग्रवाल, कबीरनगर, वाराणसी (उ.प्र.)
१६४. सुश्री उषा शाह, गोन्दिया, भण्डारा, (महाराष्ट्र)
१६५. श्री गणेश सहाय वर्मा, देवेन्द्रनगर, रायपुर (म.प्र.)
१६६. श्री शिवराजसिंह, बवाना, दिल्ली
१६७. श्रीमती विन्देश्वरी देवी, अकलतरा, जाँजगीर-चाम्पा (म.प्र.)
१६८. श्री उदयन कानूभाई माण्डविया, जूनागढ़ (गुजरात)
१६९. श्री रामशरण त्रिपाठी, कोटा (राजस्थान)
१७०. डॉ. डी. एन. शर्मा, आर. एस. एस. नगर, इन्दौर (म.प्र.)
१७१. श्री ओमप्रकाश बियाणी, विनयनगर, नागपुर (महाराष्ट्र)
१७२. श्री चन्द्रकान्त नागपुरे, गणेशनगर, नागपुर (महाराष्ट्र)
१७३. श्रीमती एस. राव. न्यू शान्तिनगर, रायपुर (म.प्र.)
१७४. श्री अतुल रामदास फिरके, मलकापुर, बुलढाणा (महाराष्ट्र)
१७५. श्री विजय कुमार पी. शंखपाल, गंगापुर रोड, नासिक (महाराष्ट्र)
१७६. श्री अतुल पटेल, गोन्दिया, भण्डारा (महाराष्ट्र)
१७७. श्री रामकिशोर शर्मा, ओबैदुल्लागंज, रायसेन (म.प्र.)
१७८. श्री हरसुखभाई उधास, माण्डवी, कच्छ (गुजरात)
१७९. श्री राज सिंह, वसुन्धरा एन्क्लेव, नई दिल्ली
१८०. प्राचार्य, शासकीय जवाहर लाल नेहरू महाविद्यालय, बेमेतरा, दुर्ग, (म.प्र.)
१८१. श्रीमती कुमुद पार्थसारथी, लोकमान्य नगर, इन्दौर (म.प्र.)
१८२. डॉ. पी.वी. हाडे, चैतन्यवाडी, बुलढाणा (महाराष्ट्र)
१८३. श्री भास्कर प्रताप सिंह, नई दिल्ली

१८४. श्री जे.जी. टाकोड़े, भोरसी, अमरावती (महाराष्ट्र)
१८५. डॉ. श्रीमती आशा पाण्डेय, गोपी टॉकीज रोड, रायगढ़ (म.प्र.)
१८६. श्री. एम. एस. राणे, वाशी, न्यू मुम्बई (महाराष्ट्र)
१८७. श्री रविशंकर पारिक, गांधीनगर, जयपुर (राजस्थान)
१८८. श्री मोहन केशव व्यवहारे, धंतोली पार्क, नागपुर (महाराष्ट्र)
१८९. श्री किशोरी लाल बागड़िया, जवाहरनगर, रायपुर (म.प्र)
१९०. श्री एम. एम. झुनझुनवाला, सम्बलपुर (उड़ीसा)
१९१. श्री संजय जे. राऊत, बडगाँव, कोल्हापुर (महाराष्ट्र)
१९२. श्रीमती रत्ना झा, बहरागोड़ा, पूर्वी सिंहभूम (बिहार)
१९३. श्रीमती सुरिन्द्र मोहिनी चड्डा, पीथमपुरा, नई दिल्ली
१९४. सुश्री प्रभा बरतरिया, गिन्नौरी बजरिया, भोपाल (म.प्र.)
१९५. श्रीमती कलावती शर्मा, रेवतीपुर, गाजियाबाद (उ.प्र.)
१९६. श्री प्रभुलाल जे. शाह, मंगलपुर, बड़ौदा (गुजरात)
१९७. श्री शिवकुमार शुक्ला, सुन्दरनगर, रायपुर (म.प्र.)
१९८. श्री चन्द्रकान्त शंकर वैद्य, अरेरा कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.)
१९९. श्रीमती अमिता पटेल, आणन्द, (गुजरात)
२००. श्री नवीन दवे, कुरुल, रायगढ़ (महाराष्ट्र)

आजीवन ग्राहकों को सूचना

मासिक 'विवेक-ज्योति' का आजीवन ग्राहकता शुल्क (पच्चीस वर्षों के लिए) रु. ७००/- निर्धारित हुआ है। जिन ग्राहकों ने पिछले पच्चीस वर्षों के दौरान १००, २०० या ३०० रुपये की दर से यह शुल्क जमा किया है, उनसे अनुरोध है कि वे अपने ग्राहक संख्या का उल्लेख करते हुए यथाशीघ्र बाकी राशि का, अपनी सुविधानुसार इकट्ठे या किस्तों में मनिआर्डर या बैंकड्राफ्ट के द्वारा जमा कर दें। ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर' के नाम से बनवाएँ। भेजी जानेवाली राशि का विवरण इस प्रकार है – ग्राहक संख्या L-९१४ से L-३४१४ तक रु. ६००/-; ग्राहक संख्या L-३४१५ से L-३९२५ तक रु. ५००/-; ग्राहक संख्या L-३९२६ से L-४१९३ तक रु. ४००/-।

जिन सदस्यों की राशि जनवरी २००० ई. के पूर्व प्राप्त हो जायेगी, उन्हें जनवरी-९९ से पच्चीस वर्षों के लिए नया आजीवन सदस्य बना लिया जायेगा। नवीनीकरण के लिए बाकी राशि न प्राप्त होने पर जमाराशि में से प्रतिवर्ष का वार्षिक शुल्क (रु. ५०) काट लिया जायेगा और राशि समाप्त हो जाने पर अंक भेजना स्थगित कर दिया जायेगा।

— व्यवस्थापक

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

राजा और ज्ञानी

त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्नताः
ख्यातस्त्वं विभवैर्यशांसि कवयो दिक्षु प्रतन्वन्ति नः।
इत्थं मानद नातिदूरमुभयोरप्यावयोरन्तरं
यद्यस्मासु पराङ्मुखोऽसि वयमप्येकान्ततो निःस्पृहाः।

अर्थ – हे राजन्, यदि तुम्हें राजा होने का अहंकार है, तो हम भी गुरुसेवा से प्राप्त ज्ञान के कारण गर्वोन्नत हैं; तुम धन-सम्पत्ति के ऐश्वर्य के चलते प्रसिद्ध हो, तो हमारा यश भी कवियों द्वारा समस्त दिशाओं में फैलाया जाता है; इस प्रकार हम दोनों में कोई ज्यादा भेद नहीं है । (अतः) यदि तुम हमसे मुँह फेरते हो, तो हम भी पूरी तौर से तुम्हारे प्रति निरपेक्ष हैं अर्थात तुम्हारी परवाह नहीं करते ।

अर्थानामीशिषे त्वं वयमपि च गिरामीश्महे यावदर्थं
शूरस्त्वं वादिदर्पव्युपशमनविधावक्षयं पाटवं नः।
सेवन्ते त्वां धनाढ्या मतिमलहतये मामपि श्रोतुकामा
मय्यप्यास्था न ते चेत्त्वयि मम नितरामेव राजन्ननास्था।

अर्थ – तुम धन-धान्य के शासक हो, तो हम भी शास्त्रों के वास्तविक मर्म पर अधिकार रखते हैं; तुम शत्रुनाशक वीर हो, (तो) हमें भी अपने प्रतिवादियों के गर्व का खण्डन करने की पद्धति में परम कुशलता प्राप्त है; (यदि) धनिकगण तुम्हारी सेवा करते हैं; (तो) मुमुक्षु श्रोतागण अपनी बुद्धि के दोषों का नाश करने हेतु हमारी भी सेवा किया करते हैं; (अतः) हे राजन्, हम पर यदि तुम्हारी श्रद्धा नहीं है, (तो) हम भी तुम्हारे प्रति पूर्ण उपेक्षा का भाव रखते हैं ।

— **भर्तृहरिकृत वैराग्यशतकम्, ५१-५२**

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(भीमपलासी – कहरवा)
(तर्ज – वह शक्ति हमें दो दयानिधे)

मेरे चिर सूने अन्तर में, हे रामकृष्ण अब आ जाओ।
मम दुख-पीड़ा से क्यों न पिघल, तन-मन-जीवन में छा जाओ॥
संसार तुम्हारा जटिल बड़ा, मैं किंकर्तव्य-विमूढ़ खड़ा,
जाऊँ किस ओर न ज्ञात मुझे, आकर तुम ही बतला जाओ॥
अति शुष्क पड़ा है मेरा चित, ना भाव-भक्ति रस है किंचित,
तुम ही अब तो करुणा करके, निज स्नेहसुधा बरसा जाओ॥
विषयों से मैं उकताया हूँ, इसलिए शरण में आया हूँ,
कातर हो तुम्हें पुकार रहा, निज रूप-अनूप दिखा जाओ॥

– २ –

श्रीरामकृष्ण के चरणों में मेरा सब कुछ न्यौछावर है,
माया-ममता का नाम नहीं, तन-मन-जीवन उनका घर है ॥ श्री.॥
जैसे वे रखते हैं मुझको, वैसे ही जग में रहता हूँ,
अपने दिल की सारी बातें, मैं प्रतिपल उनसे कहता हूँ;
अब तो वे यह दिखता है मुझको, उनका ही रूप चराचर है ॥ श्री.॥
जीवन का खेल खतम होगा, जब दिन पूरे हो जायेंगे,
निज गोद उठा ले जाने को, वे अन्तिम क्षण में आयेंगे;
तैयार सदा हूँ चलने को, यम का अब दूर हुआ डर है ॥ श्री.॥

– विदेह

अग्नि-मंत्र

(श्रीमती ओली बुल को लिखित)

१७ जनवरी, १९००

प्रिय धीरा माता,

सारदानन्द के लिए प्रेषित कागजात के साथ आपका पत्र मिला; उसमें कुछ अच्छे समाचार भी हैं। इसी सप्ताह कुछ और भी सुसंवाद पाने की आशा में हूँ। आपने अपनी योजनाओं के सम्बन्ध में कुछ भी तो नहीं लिखा है। कुमारी ग्रीनस्टिडल ने मुझे एक पत्र लिखकर आपके प्रति अपनी गम्भीर कृतज्ञता प्रकट की हैं - ऐसा कौन है जो आपके प्रति कृतज्ञता प्रकट किये बिना रह सकता है? आशा है कि आजकल तुरीयानन्द भलीभाँति कार्य में संलग्न होगा।

सारदानन्द को २००० रु. भेजने में समर्थ हो सका हूँ। इसमें कुमारी मैक्लिऑड तथा श्रीमती लेगेट सहायक सिद्ध हुई हैं; इस राशि का अधिकांश उन्हीं लोगों द्वारा दिया गया है, बाकी व्याख्यानों से प्राप्त हुआ। यहाँ पर या अन्यत्र कहीं व्यख्यान के द्वारा विशेष कुछ होने की मुझे कोई आशा नहीं है। इससे मेरा व्यय-निर्वाह तक नहीं होता। इतना ही नहीं, पैसा देने की सम्भावना के कारण कोई दिखाई भी नहीं देता है। इस देश में व्याख्यान के माध्यम का काफी उपयोग किया गया है और लोगों में सुनने की भावना समाप्त हो चुकी है।

निस्सन्देह मेरा स्वास्थ्य अच्छा है। डॉक्टर की राय में मैं कहीं भी जाने को स्वाधीन हूँ; दवा चलती रहेगी और मैं कुछ ही महीनों में पूर्णतया स्वस्थ हो जाऊँगा। उसका दृढ़ विश्वास है कि मैं ठीक हो चुका हूँ; शेष कमियाँ प्रकृतिक रूप से पूरी हो जायेंगी। खासकर स्वास्थ्य सुधारने के लिए ही मैं यहाँ पर आया था और उसका सुफल मुझे प्राप्त हुआ है। इसके साथ-ही-साथ मुझे २००० रु. भी मिले, जिससे कानूनी कार्यवाहियों का खर्च भी निकल गया। मुझे लग रहा है कि व्याख्यान-मंच पर खड़े होने का मेरा कार्य समाप्त हो चुका है; ऐसे कार्यों द्वारा अपना स्वास्थ्य बरबाद करना अब मेरे लिए आवश्यक नहीं है।

अब मुझे यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि मठ सम्बन्धी सारी चिन्ताओं से मुझे स्वयं को मुक्त कर लेना होगा और कुछ समय के लिए अपनी माँ के पास जाना होगा। मेरी वजह से उन्होंने बहुत कष्ट उठाया। मुझे उनके जीवन के अन्तिम दिनों को व्यवधान-रहित बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। क्या आप जानती हैं कि महान शंकराचार्य को भी ठीक ऐसा ही करना पड़ा था? अपनी माँ के जीवन के अन्तिम दिनों में उनको भी माँ के पास लौटना पड़ा

था। मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं आत्मसमर्पण कर चुका हूँ। इस समय मैं सदा से अधिक शान्त हूँ। केवल आर्थिक दृष्टि से ही कुछ कठिनाई है। हाँ, भारतीय लोग कुछ ऋणी भी हैं। मैं मद्रास तथा भारत के कुछ मित्रों से प्रयत्न करूँगा। अस्तु, मुझे अवश्य प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि मुझे यह पूर्वाभास हो चुका है कि मेरी माँ अब अधिक दिनों तक जीवित नहीं रहेंगी। ऐसे परम त्याग का आह्वान भी मुझे मिल रहा है कि उच्चाभिलाषा, नेतृत्व तथा यश का आकांक्षाओं को मुझे त्यागना होगा। मेरा मन इसके लिए प्रस्तुत है और अब मुझे तपस्या करनी होगी। लेगेट के पास के एक हजार डालर और यदि कुछ अधिक एकत्र किया जा सके; तो ये आवश्यकता पड़ने पर काम चलाने के लिए पर्याप्त होंगे। क्या आप मुझे भारत भेज देंगी? मैं प्रतिक्षण तैयार हूँ। मुझसे मिले बिना आप फ्रांस न जायँ। 'जो' तथा निवेदिता के कल्पना-विलासों की तुलना में अब मैं कम-से-कम व्यावहारिक तो बन ही गया हूँ। मेरी ओर से वे अपनी कल्पनाओं को रूप प्रदान करें - मेरे निकट अब उनका स्वप्नों से अधिक कोई मूल्य नहीं है। मैं, आप, सारदानन्द एवं ब्रह्मानन्द के नाम से मठ की वसीयत कर देना चाहता हूँ। ज्योंही सारदानन्द के यहाँ से कागजात मेरे पास आ जायेंगे, मैं यह कर दूँगा। तब मुझे छुट्टी होगी। मैं चाहता हूँ विश्राम, एक मुट्ठी अन्न, कुछ एक पुस्तकें तथा कुछ विद्वत्तापूर्ण कार्य। 'माँ' अब मुझे यह प्रकाश स्पष्ट रूप से दिखा रही हैं। इतना अवश्य है कि उन्होंने सर्वप्रथम इसका आभास आपको ही दिया था। किन्तु उस समय मुझे विश्वास नहीं हुआ था। किन्तु फिर भी अब यह स्पष्ट हो गया है कि १८८४ में अपनी माँ को छोड़ना मेरे लिए एक महान त्याग था और आज अपनी माँ के पास लौट जाना उससे भी बड़ा त्याग है। शायद 'माँ' की यही इच्छा है कि प्राचीन काल के महान आचार्य की भाँति मैं भी कुछ अनुभव करूँ, है न यह बात? मैं अपनी अपेक्षा आपके संचालन में अधिक विश्वास रखता हूँ। 'जो' और निवेदिता के हृदय महान हैं; किन्तु मेरे परिचालनार्थ 'माँ' अब आपको प्रकाश भेज रही हैं। क्या आप प्रकाश देख रही हैं ? आप क्या परामर्श देती हैं? कम से कम मुझे बिना घर भेजे आप इस देश से बाहर मत जाइए।

मैं तो केवल एक बच्चा हूँ; मुझे कौन सा कार्य करना है? मैं अपना अधिकार आपको सौंप रहा हूँ। मुझे यह दिखायी दे रहा है। व्याख्यान-मंच से धर्म-प्रचार करना अब मेरे लिए सम्भव नहीं होगा। यह बात किसी को मत बतायें - यहाँ तक कि 'जो' को भी नहीं। इससे मैं आनन्दित हूँ। मैं विश्राम चाहता हूँ। मैं थक गया हूँ, ऐसी बात नहीं है; किन्तु अगला अध्याय होगा - वाक्य नहीं, किन्तु अलौकिक स्पर्श, जैसा कि श्रीरामकृष्णदेव का था। 'शब्द' आपके पास चले गये हैं और 'आवाज' निवेदिता के यहाँ। अब मुझमें ये नहीं हैं। मैं प्रसन्न हूँ। मैं समर्पित हो चुका हूँ। केवल मुझे भारत में ले चलिए, क्या आप नहीं ले चलेंगी? 'माँ' आपको ऐसा करने के लिए प्रेरित करेंगी, मैं निश्चिन्त हूँ।

आपकी चिरसन्तान

विवेकानन्द

कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है

स्वामी आत्मानन्द

श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय के ४७ वें श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण कर्म के प्रति एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं –

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।।

– "तेरा अधिकार कर्म करने में ही है, उनके फलों में कभी भी नहीं। तू कर्मफल की प्राप्ति का कारण मत बन और न तेरी प्रवृत्ति कर्म न करने में हो।"

इस श्लोक को कर्मयोग की चतुःसूत्री कहा गया है – यानी चार सूत्रों में कर्मयोग के समूचे सिद्धान्त का प्रतिपादन। कर्मयोग का अर्थ है – कर्म के माध्यम से ईश्वर से, सत्य से, आत्मा से, अपने स्वरूप से योग साधित कर लेना। मानव-जीवन का लक्ष्य ही ईश्वर से योग माना गया है।

कर्मयोग की इस चतुःसूत्री का पहला सूत्र कर्म करने पर जोर देता है, कहता है कि मनुष्य का अधिकार कर्म करने में है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि जब मनुष्य स्वभाव से ही क्रियाशील है, तब यह कहने की क्या आवश्यकता हो सकती है कि कर्म करने में ही मनुष्य का अधिकार है? उत्तर में कह सकते हैं कि दूसरे सूत्र की बात को प्रभावी ढंग से रखने के लिए यह कहकर भूमिका बनायी गयी है। दूसरे सूत्र में कहा कि फल में अधिकार कदापि नहीं है। इन दोनों सूत्रों को एक साथ जोड़ने से पहले सूत्र की बात समझ में आती है। मनुष्य जब कर्म करता है, तो स्वाभाविक ही उसके फल की उसे चाह होती है। बिना फल की इच्छा के व्यक्ति कर्म करेगा ही क्यों? जिसे निष्काम कर्मयोग कहा जाता है, वह ऊँची अवस्था है, वह एकदम से किसी को नहीं मिल जाती। उसके लिए साधना करनी पड़ती है और हमारा यह विवेच्य श्लोक उस साधना की प्रक्रिया को चार सूत्रों के माध्यम से हमारे समक्ष रखता है।

साधन का पहला सोपान कर्म करने की अनिवार्यता बतलाता है। बिना कर्म किये कोई व्यक्ति एक क्षण के लिए भी नहीं रह सकता। भगवान कृष्ण गीता में ही अन्यत्र कहते हैं –

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।। (३/५)

– कोई व्यक्ति बिना कर्म किये यदि क्षण भर भी बैठना चाहे, तो प्रकृति के गुण उसे बैठने नहीं देते। जब मनुष्य को क्रियाशील होना ही है, तब वह किस प्रकार से कर्म करे, जिससे उसका कर्म कर्मयोग बन जाये, यही आगे के तीन सूत्रों में बताया गया है।

दूसरा सूत्र साधना का दूसरा सोपान है। कर्म तो अपने समूचे अधिकार से करो, पर फल पर अपना अधिकार जमाने की वृथा चेष्टा मत करो, क्योंकि फल का अधिकार

तुम्हारा नहीं है। यह सुनकर कोई पूछ सकता है कि जब कर्म हमने किया, तब फल पर हमारा अधिकार क्यों न होगा? इसका उत्तर यह है कि कर्म का जो भी फल होगा, वह कर्म के अटल सिद्धान्त के अनुसार तुम्हें मिलेगा ही, परन्तु फल पर तुम्हारा अधिकार नहीं है।

एक उदाहरण से बात स्पष्ट करें। एक लड़का परीक्षा देकर घर आता है। उसने परचा लिखना रूप जो कर्म किया, उसका फल तो उसे मिलेगा ही, पर यदि वह फल पर अधिकार जमाए तो यह अनुचित बात होगी। लड़का सोचता है कि उसे ८०% अंक मिलने चाहिए। परन्तु अंक देने का अधिकार उसका नहीं, परीक्षक का है। हो सकता है कि उसे ४०% अंक ही प्राप्त हों। यही तर्क यहाँ भी लागू होता है। मैं समझता हूँ कि मैंने काम अच्छा किया है, इसलिए मुझे ऐसा ही फल मिलना चाहिए। परन्तु फलप्रदाता ईश्वर जानते हैं कि मेरा कर्म कैसा हुआ है। वे मेरे कर्म की गुणवत्ता के आधार पर फल देते हैं। इसीलिए दूसरा सूत्र कहता है कि फल पर तुम्हारा अधिकार नहीं है। जैसे विद्यार्थी परीक्षक का अधिकार स्वय लेना चाहे तो वह सर्वथा अनुचित है, वैसे ही मनुष्य का फल पर अधिकार जमाने की चेष्टा भी अनुचित है।

तीसरा सूत्र कहता है कि तुम कर्मफल के हेतु मत बनो। कर्मफल का हेतु बनना मानो फल को पाने की चेष्टा करना। दूसरे सूत्र में सिद्धान्त बतलाया। तीसरे में उसका व्यवहार प्रदर्शित है। फल का अधिकार तुम्हें नहीं, इसलिए तुम्हें कर्मफल का कारण नहीं बनना चाहिए। कर्मवाद के अटल सिद्धान्त को ही कर्मफल का कारण बनने दो।

चौथा सूत्र कहता है कि यह सब सुनकर तुममें ऐसी प्रतिक्रिया भी न उत्पन्न हो कि तुम कर्म करना ही छोड़ दो। ऐसा न कहो कि जब फल से मेरा सरोकार नहीं, तब कर्म ही भला क्यों करूँ? रजोगुण कहता है कि कर्म करूँगा तो फल लेकर ही करूँगा। और तमोगुण कहता है कि फल पर अधिकार छोड़ना है तो कर्म को ही छोड़े देता हूँ। भगवान् कृष्ण कहते हैं – तुम सत्वगुणी बनो, क्योंकि सत्वगुण कहता है कर्म करो पर फल का अधिकार ईश्वर पर छोड़ दो। □

दु:ख का कारण

आज ससार में बल-संचार की जितनी आवश्यकता है, उतनी और कभी नहीं थी। वेदान्त कहता है – दुर्बलता ही संसार में समस्त दु:ख का कारण है, इसी से सारे दु:ख-कष्ट पैदा होते हैं। हम दुर्बल हैं, इसीलिए इतना दु:ख भोगते हैं। हम दुर्बलता के कारण ही चोरी-डकैती, झूठ-ठगी तथा इसी प्रकार के अनेकानेक दुष्कर्म करते हैं। दुर्बल होने के कारण ही हम मृत्यु के मुख में गिरते हैं। जहाँ हमें दुर्बल बनानेवाला कोई नहीं है, वहाँ न मृत्यु है, न दु:ख। हम लोग केवल भ्रान्तिवश दुख भोगते हैं। इस भ्रान्ति को दूर कर दो, सभी दु:ख चले जाएँगे।

— स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(सड़सठवाँ प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के भूतपूर्व महाध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने पहले बेलूड़ मठ और तदुपरान्त रामकृष्ण योगोद्यान, कलकत्ता में 'कथामृत' पर बँगला में जो धारावाहिक प्रवचन दिये थे, वे संकलित होकर छह भागों में प्रकाशित हुए हैं। इसकी उपादेयता को देखते हुए हम भी इसे धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। अनुवादक श्री राजेन्द्र तिवारी सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। – सं.)

सत्यनिष्ठा

विद्यासागर का प्रसंग उठने पर श्रीरामकृष्ण मास्टर महाशय से कहते हैं, "सत्यनिष्ठ रहने से ही ईश्वर मिलते हैं।" सत्य के प्रति निष्ठा न रहने पर मनुष्य कभी भगवान की ओर अग्रसर नहीं हो सकता – यह भलीभाँति स्मरण रखना होगा। तुलसीदास ने कहा है –

सत्यवचन अधीनता परस्त्री मातृसमान।
ऐसेहु हरि नहिं मिलै तौ तुलसी झूठ जबान ।।

सत्य बोलना और अधीनता का अर्थ है – विनम्रभाव से भगवान का दास होकर रहना तथा परायी स्त्री को माता के समान समझना – ये तीन बातें यदि हों और फिर भी हरि न मिलें, तो तुलसीदास की सारी बातें मिथ्या मानो अर्थात इन बातों से अवश्य ही भगवान का दर्शन होता है।

प्राचीन काल से ही हमारे शास्त्रों में सत्य-वचन पर बल दिया गया है। वेद कहते हैं – **सत्यमेव जयते नानृतम्। सत्येन पन्था विततो देवयान** – "सत्य की ही विजय होती है, मिथ्या की नहीं। सत्य के द्वारा देवयान-मार्ग खुल जाता है।"[१] देवयान-मार्ग वह है, जिससे ब्रह्मलोक आदि की ओर गति होती है, यह मार्ग सत्य के द्वारा खुल जाता है। किसी उद्देश्य-पूर्ति के लिए नहीं, सत्य के लिए ही सत्य का पालन करना होगा, क्योंकि भगवान सत्यस्वरूप हैं। सत्य का पालन करने से मन की शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि सत्यवादी के मुख से जो निकलता है, वही सत्य हो जाता है। ठाकुर में यह सत्यनिष्ठा इतनी प्रबल थी कि भूल से भी वे कोई मिथ्या आचरण नहीं कर पाते थे। सत्यनिष्ठा के फलस्वरूप एक अदम्य दृढ़ता आती है। ठाकुर ने अन्यत्र एक स्थान पर कहा है कि जो सत्य को पकड़े रहता है, वह सत्यरूप भगवान को पा लेता है। भगवान स्वयं सत्यस्वरूप हैं।

विद्यासागर ने ठाकुर से कहा था कि वे दक्षिणेश्वर आयेंगे, परन्तु आये नही। सम्भव है कि भद्रता के तकाजे पर उन्होंने ऐसे ही कह दिया हो और फिर भूल गये हों। परन्तु जो लोग मन-मुख एक नहीं करते, ठाकुर उनकी कड़ी निन्दा करते हुए कहते कि मन-मुख एक करना चाहिए। परन्तु हमारे सामने एक बड़ी कठिनाई है। हमारा मन इतना मलिन है कि वह जो सोचता है, उसे यदि ज्यों-का-त्यों प्रकट कर दें तो हम समाज में अग्राह्य हो

---

१. मुण्डकोपनिषद्, ३/१/५

जायेंगे। इसका तात्पर्य क्या है? यह कि समाज में स्वयं को अच्छा दिखाने के लिए हम जैसे नहीं हैं, वैसा दिखाने के लिये असत्य बोलते हैं या फिर अपनी बात को घुमा-फिराकर, सजा-सँवारकर व्यक्त करते हैं।

कुरुक्षेत्र के युद्ध में द्रोणाचार्य ने कहा कि युधिष्ठिर सत्यवादी है, वह यदि कहे कि अश्वत्थामा मारा गया, तभी विश्वास करूँगा। युधिष्ठिर से इसके लिए अनुरोध किया गया। परन्तु उन्होंने कहा कि झूठी बात वे भला कैसे बोलेंगे? समस्या यहीं पर है – एक ओर सत्य है, तो दूसरी ओर सर्वनाश। पुराण में कहा गया कि युधिष्ठिर इतने बड़े सत्यनिष्ठ हैं, तो भी वे संशयग्रस्त हो गये। आखिरकार आत्मरक्षा के लिए उन्होंने उच्च स्वर में कह ही दिया – **अश्वत्थामा हतः** और धीमे स्वर में कहा – **इति गजः** अर्थात अश्वत्थामा मारा गया, उस नाम का हाथी। इस हाथीवाले वाक्य को बोलते समय जोर के स्वर में वाद्य बजा दिये गये, जिसके कारण द्रोणाचार्य उस वाक्य के उत्तरार्ध को नहीं सुन सके और आधे वाक्य को ही सुनकर पुत्रशोक से कातर होकर गिर पड़े। उद्देश्य सफल हो गया।

हम सोचेंगे कि तब तो युधिष्ठिर-जैसे सत्यनिष्ठ लोग भी आदर्श से भ्रष्ट हो गये! यदि हमारे सामने भी इसी तरह की समस्या उपस्थित हो, तो हममें ऐसे कितने लोग हैं, जो ऐसी परिस्थिति में भी सत्यनिष्ठा को बचाए रखकर सर्वनाश को स्वीकार कर सकेंगे? इस घटना से समझ लेना होगा कि सत्य-पालन के लिए कितनी बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है। वैसे पुराणों में यह भी कहा गया है कि निष्पाप युधिष्ठिर को इतनी-सी भूल के लिए नरक-दर्शन करना पड़ा था। किन्तु यह नरक-दर्शन ही कोई बड़ी बात नहीं है। युधिष्ठिर की दया, सत्यनिष्ठा, ज्ञान, भक्ति – यह सब देखना होगा। वहाँ उद्देश्य नरक-दर्शन कराकर युधिष्ठिर को छोटा बनाना नहीं, बल्कि यह दिखाना है कि सत्य का कितना महत्त्व है!

पण्डित और साधु

इसके बाद ठाकुर पण्डित और साधु का पार्थक्य बताते हैं। कहते हैं, "पण्डित और साधु में बड़ा भेद है। जो केवल विद्वान है, उसका मन कामिनी-कांचन पर है। साधु का मन ईश्वर के चरणारविन्दों में लगा रहता है। पण्डित कहता कुछ और करता कुछ और है। साधु की बात जाने दो। जिनका मन ईश्वर के चरणारविन्दों में लगा रहता है, उनके कर्म और उनकी बातें और ही होती हैं।" काशी के एक नानकपन्थी साधु के विषय में वे कहते हैं कि एक ओर तो ये लोग वेदान्ती हैं और दूसरी ओर भक्त। उनमें दोनों ही भावों का समन्वय देखा जाता है। बहुत-से वेदान्तवादी भक्ति को नहीं मानते। वेदान्त-धर्म में भक्तों को निम्न अधिकारी माना जाता है। तोतापुरी के आचरण में हमें इसका दृष्टान्त देखने को मिल जाता है। ठाकुर को ताली बजाकर भगवान का नाम-संकीर्तन करते देखकर तोतापुरी ने कहा था, "क्यों रोटी ठोंकता है?" अर्थात रोटी बनाते समय जैसे हथेली में रोटी ठोंकी जाती है, उसी तरह ताली क्यों ठोंक रहे हो?

कट्टर वेदान्तियों का दृष्टिकोण ऐसा ही है। इसमें उनका दोष नहीं है, उनका संस्कार ही ऐसा है। तोतापुरी कोई साधारण व्यक्ति नहीं हैं, वे ज्ञानी हैं, तीव्र वैराग्य लेकर साधनापथ पर चलते हैं, परन्तु भक्तियोग के प्रति उनकी ऊँची धारणा नहीं है। और भगवान के विभिन्न

रूपों को ये वेदान्ती लोग माया का कार्य मानते हैं। वे केवल दो बातें ही समझते हैं – ब्रह्म और माया। उनका कहना है कि जीव और ईश्वर – दोनों ही माया की सन्तान हैं। अर्थात माया के द्वारा जीवत्व और माया की दृष्टि से ईश्वरत्व। परन्तु नानकपन्थी साधुओं ने वेदान्ती होकर भी भक्तियोग को उच्च स्थान दिया है। हमें इस सम्प्रदाय के अनेक साधु देखने को मिले हैं। ये लोग बड़े भक्तिमान होते हैं और यही उनका वैशिष्ट्य है।

ठाकुर की बात अलग है। उनकी दृष्टि में कोई भी मतवाद त्याज्य नहीं है। वे एक ही आधार में योगी, भक्त, ज्ञानी, कर्मी – सब हैं। उनके साथ तुलना करने को शायद कोई भी न मिले। सामान्यत: साधकगण एक अपने मार्ग को छोड़कर, अन्य मार्गों को समझ नहीं पाते या समझने की चेष्टा नहीं करते और इसी के फलस्वरूप दूसरे मार्गों के प्रति द्वेषभाव का पोषण करते हैं। परन्तु ठाकुर इसके बिल्कुल उल्टी बात कहते हैं। उनका कहना है कि तुम अपने मत में निष्ठा अवश्य रखो, परन्तु दूसरों के मत पर टीका-टिप्पणी करने का तुम्हें अधिकार नहीं है। क्या तुमने उन मतों की साधना करके उनकी व्यर्थता को देख लिया है? और अपने स्वयं के मत में ही भला तुम्हारी कितनी गहरी निष्ठा है? अपने ही मतवाद के विषय में स्पष्ट धारणा रहे बिना तुम दूसरों के साथ अपने मत की तुलना कैसे करोगे? यह बात विशेष रूप से विचार करने योग्य है। हम किसी विषय में अज्ञ हों, तो उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। यदि हम सही अर्थों में आत्म-विश्लेषण करके देखें तो समझ सकेंगे कि हम कितने क्षुद्र हैं, कितने अल्पबुद्धि हैं। इस छटाँक भर बुद्धि के द्वारा जब हम दूसरों के साथ स्वयं की तुलना करते हुए अपनी श्रेष्ठता प्रतिपादित करने की कोशिश करते हैं, तब हम स्वयं को कितना हास्यास्पद बना बैठते हैं, इसकी हमें कल्पना तक नहीं रहती।

आदर्श धर्म

पूर्वोक्त नानकपन्थी साधु के सन्दर्भ में ठाकुर कहते हैं – गीतापाठ के समय वह विषयी लोगों की ओर उन्मुख न होकर, मेरी ओर देखते हुए पढ़ने लगा। यह जो अपने मत के प्रति निष्ठा है, इस कठोर वैराग्य के परिणामस्वरूप संसारियों के प्रति थोड़ी उपेक्षा की दृष्टि आ जाती है। विषय के प्रति वितृष्णा रखने के प्रयत्न में विषयी के प्रति भी वितृष्णा आ पड़ती है। शास्त्र कहते हैं कि अगर कोई गिर जाए तो उससे घृणा करोगे या उसका हाथ पकड़कर, खींचकर उसे उठाने की चेष्टा करोगे? ठाकुर सतर्क कर दे रहे हैं कि अपने आदर्श के प्रति निष्ठावान होने के साथ-ही-साथ हमें दूसरों के आदर्श के प्रति भी उदार दृष्टिकोण रखना चाहिए। इस सम्बन्ध में भक्तों का व्यवहार कैसा होना चाहिए, इस विषय में शास्त्र कहते हैं – मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा रहनी चाहिए। 'मैत्री' का अर्थ है – सबके साथ मित्रता, सबके प्रति सहानुभूति के साथ, सबके कल्याण के लिए आत्मोत्सर्ग करना। मैत्री के फलस्वरूप ऐसा होगा। 'करुणा' का तात्पर्य है – किसी का दु:ख-दारिद्र्य या अध:पतन देखने पर उसके प्रति संवेदना अनुभव करना और उसको उस अवस्था से निकालने के लिए हार्दिक प्रयास करना। ऐसा न करने पर हमारा धर्मजीवन बाधित होगा। 'मुदिता' – मनुष्यों के सुख में सुखी होना और सबके प्रति सहानुभूतिसम्पन्न होना। 'उपेक्षा' – अर्थात यदि कोई भगवद्-विद्वेषी हो, तो उसके इस द्वेषभाव के प्रति उपेक्षा की दृष्टि लानी पड़ेगी। धर्मपथ पर चलने के लिए इन प्रणालियों का विधान किया गया है।

वेदान्तवाद और भक्तिमार्ग

मास्टर महाशय ने पूछा, "वे साधु क्या वेदान्तवादी नहीं हैं?" ठाकुर कहते हैं, "हाँ, वे लोग वेदान्तवादी हैं, परन्तु भक्तिमार्ग भी मानते हैं।" वास्तव में कोई मुँह से कहने मात्र से तो वेदान्तवादी हो नहीं जाता। वेदान्त-तत्त्व की धारणा हेतु मन की जिस शुद्धि की आवश्यकता है, वह कलियुग में नहीं हो पाती। इसीलिए कहते हैं कि कलियुग के लिए नारदीय भक्ति है – जो भक्ति अहैतुकी अर्थात प्रतिदान में कुछ भी नहीं चाहती। नारदजी ने भक्ति का लक्षण बताते हुए कहा है – **सा कस्मैचित् परम प्रेमरूपा।** वह भक्ति कैसी है? – किसी प्रेमास्पद के प्रति परम प्रेम-स्वरूप है। 'परम-प्रेम' कहने का एक विशिष्ट तात्पर्य है। सगे-सम्बन्धियों तथा विषयों के प्रति जो साधारण प्रेम होता है, वह स्वार्थपरता के कारण दूषित होता है। यह प्रेम ममत्व-बुद्धि से प्रेरित होने के कारण बन्धन का कारण बनता है। 'परम-प्रेम' का तात्पर्य है परम अर्थात श्रेष्ठ अनुराग। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रेमास्पद उपाय नहीं, बल्कि उद्देश्य हैं। वे कुछ देंगे, यह सोचकर नहीं, बल्कि वे 'वे' हैं, इसलिए उनसे प्रेम करना है। यही 'परम-प्रेम' है।

कलियुग में यह नारदीय भक्ति ही उपयोगी है। क्यों? इसलिए कि इसमें मन की खूब उच्च अवस्था न होने पर भी, भगवान को प्रभु-रूप में, सन्तान-रूप में या चाहे जिस किसी रूप में हम उनका चिन्तन कर सकते हैं। अपनी सीमा के भीतर ही हम इसका अभ्यास कर सकते हैं। परन्तु जब हम कहते हैं कि 'मैं ब्रह्म हूँ', तब वे ब्रह्म हमारी पहुँच के इतना बाहर होते हैं कि उनके साथ कोई भी सम्बन्ध हमारे मन को प्रभावित नहीं कर पाता। हमारे साथ उनका पार्थक्य इतना अधिक है, जैसा दो बिल्कुल विरोधी व्यक्तियों के बीच होता है – उन दोनों के बीच एकत्व की कल्पना तक असम्भव है। तथापि मन की मलिनता दूर होने पर जब हम उनके समान शुद्ध हो जाएँ, तभी 'मैं वही हूँ' – कहना शोभा देता है। उसके पहले 'मैं वही हूँ' – कहना ठीक नहीं है। ठाकुर ने कई बार बताया है कि 'सोऽहम्' कहना ठीक नहीं है। ऐसा कहने योग्य मनःस्थिति, मन की भूमिका कहाँ है, धारणा-शक्ति कहाँ है? इसलिए भक्तिभाव से, विनीत भाव से कोई सम्बन्ध बनाकर हम उनसे प्रेम कर सकें तो इस प्रयत्न से मन की मलिनता क्रमशः दूर हो जाती है और इस भक्ति के द्वारा भक्त और भगवान के बीच की दूरी मिट जाती है। प्रारम्भ में इस भक्ति के साथ थोड़ी-बहुत कामनाएँ मिश्रित हों, तो भी कोई दोष नहीं, धीरे धीरे मन शुद्ध हो जाता है।

ज्ञानमिश्रा भक्ति की प्रयोजनीयता

इसीलिए ठाकुर कहा करते थे कि सामान्य लोगों के लिए ज्ञानमिश्रा भक्ति ही अच्छी है। स्वामीजी ने भी इस पर खूब बल दिया है। विचार का भी आश्रय लेना होगा, किन्तु उसी में सारी शक्ति न लगाकर, भक्ति के सहारे साधना पथ में आगे बढ़ना होगा। नहीं तो अन्धे द्वारा गाय की पूँछ पकड़कर वैकुण्ठ-यात्रा के समान हालत होगी। इसीलिए विचार की भी खूब जरूरत है। कोई कोई कहते हैं कि विचार नहीं करना चाहिए। विश्वास से वस्तु मिलती है, पर तर्क से बहुत दूर है। परन्तु वह एक अलग बात है। तर्क तीन प्रकार के होते हैं – जल्प, वितण्डा और वाद। जल्प अर्थात येन-केन-प्रकारेण सामनेवाले को पराजित करके अपने मत की स्थापना के लिए निरर्थक कूट-तर्क करना। वितण्डा में किसी मत-स्थापना

की चेष्टा नहीं, बल्कि केवल प्रतिपक्ष के मत का खण्डन ही करना होता है । वाद अर्थात सत्य को जानने के लिए जो तर्क किया जाता है, उसे वाद कहते हैं । जहाँ पर इस वाद को अस्वीकार किया जाता है, वहीं सर्वनाश को बुला लिया जाता है, क्योंकि भक्तियोग बाद में हमें कुछ अन्धविश्वासों में डुबाये रखता है और हमें किस मार्ग में ले जायेगा, इसका कोई ठिकाना नहीं । इसीलिए ज्ञानमिश्रा भक्ति की आवश्यकता है । ठाकुर ने एक स्थान पर एक भक्त की शुद्धाभक्ति के लिए प्रार्थना के उत्तर में कहा है – जिनकी भक्ति करोगे, उन्हें जाने बिना उनकी भक्ति कैसे करोगे? अर्थात उनको थोड़ा जानने की जरूरत है, अन्यथा पथभ्रष्ट होने की सम्भावना है ।

इसके बाद वे एक बात और कहते हैं – अब वेदमत नहीं चलता, अब तंत्रमत ही ठीक है । तंत्रमत और पुराणमत – दोनों एक ही श्रेणी में आते हैं । मनुष्य की बुद्धि सीमित है, उस सीमा को स्वीकार करके तंत्र, पुराण आदि की रचना हुई है । और वेदमार्ग का अर्थ है – शुद्ध ज्ञानमार्ग या याग-यज्ञादि कर्मकाण्ड । इस समय इनमें से कोई भी हमारे लिए अनुकूल नहीं है । किसी किसी यज्ञ करने में सौ वर्ष लग जाते हैं । इस युग में क्या हम इतने दिन बचेंगे, जो यज्ञ को पूरा कर सकें? फिर यज्ञ आदि के उपकरण एकत्र करने की भी हममें सामर्थ्य नहीं है । अत: अब यज्ञ आदि नहीं चलेगा । ठाकुर ने कहा है – अब दशमूल काढ़े से काम नहीं चलेगा, डी. गुप्ता का मिक्सचर चाहिए । अर्थात आयुर्वेदिक काढ़ा तैयार करना आजकर इतना कठिन है कि उसे बनाते बनाते ही प्राण निकल जाएँगे । डी. गुप्ता का मिक्सचर अर्थात पेटेण्ट दवाई ही इस युग में उपयोगी है । धर्मजीवन के मामले में भी ऐसा ही है । प्राचीन व्यवस्थाएँ अनुकूल परिवेश पर निर्भर हैं, जो इस युग में पाना असम्भव है । इस युग में एक तो थोड़ा-सा निर्जन स्थान मिलना ही मुश्किल है और ऊपर से खाने की समस्या तो है ही । स्वामीजी भी कहते हैं कि अब उन वैदिक यज्ञों के धुँए से आकाश को आच्छन्न करने का काल नहीं रहा । प्रत्येक युग में धर्म को युगोपयोगी बनाने के लिए उसमें परिवर्तन किये गये हैं । इस युग में भी कालोपयोगी व्यवस्था का अवलम्बन करना ही उचित है, इसीलिए कहते हैं – कलि के लिए नारदीय भक्ति है ।

परमहंस की अवस्था

इस परिच्छेद के प्रारम्भ में मास्टर महाशय कहते हैं कि साधुओं की बात कहते हुए ठाकुर परमहंस की अवस्था दिखाने लगे । यहाँ प्रश्न उठता है कि 'दिखाने लगे' कहने का अभिप्राय क्या है? क्या वे अभिनय करके दिखा रहे हैं? एक तरह से ऐसा लगता है कि वे अभिनय करके दिखा रहे हैं और सब लोग देख रहे हैं, किन्तु इसके साथ-ही-साथ इस बात पर भी विचार करना होगा कि ठाकुर की यह परमहंस-अवस्था उनकी जन्मजात स्वाभाविक अवस्था है । "वही बालक की-सी चाल! मुँह पर हँसी जैसे एकदम फूट-फूटकर निकल रही है! कमर में कपड़ा नहीं, दिगम्बर; आँखें आनन्दसागर में तैरती हुईं!" यही परमहंस-अवस्था है । ठाकुर ज्योंही परमहंस की बात सोचते हैं, त्योंही उनके भीतर वह भाव फूट पड़ता है । अभिनय करके वे भक्तों को दिखा रहे हों, ऐसी बात नहीं । उनको देखकर भक्त समझ पा रहे हैं कि परमहंस किसे कहते हैं । कम-से-कम उनके बाह्य लक्षण तो उन्हें दिखाई दे ही रहे हैं । बाह्य लक्षण इसलिए कि उनके अन्तर के भाव को जानने के लिए

परमहंस के मनोभाव को लेकर समझने की जरूरत है, अन्यथा उसे समझना सम्भव नहीं है। इसीलिए बाह्य लक्षणों को देखकर जितना समझा जा सकता है, उतना ही लोग समझते हैं। जैसे बच्चों में भावों को छिपाने की चेष्टा नहीं रहती; उसके मन में कोई भी भाव उठे, वह समस्त अंगों से प्रगट होने लगता है, वैसे ही ठाकुर भी एक सहज-सरल शिशु के समान हैं। ज्योंही परमहंस की बात मन में आई, त्योंही उनके समस्त अंगों से वह भाव फूट पड़ा है। इसी के द्वारा मनुष्य परमहंस के विषय में जितना समझ सकता है, समझता है।

प्रत्यक्ष और सत्यज्ञान

मास्टर महाशय दार्शनिक हैं, अत: उनका दार्शनिक मन विचार में प्रवृत्त हुआ और वे कहने लगे, "जीवन एक लम्बी नींद है! इतना ही समझता हूँ कि सब ठीक ठीक नहीं देख रहा हूँ। जिस मन से मैं आकाश को नहीं समझता, उसी मन से संसार को देख रहा हूँ न? अतएव देखना किस तरह से ठीक होगा?" प्रश्न उठता है – क्यों? इसलिए कि दृष्टि में एक भ्रम आ पड़ा है। जब हम एक सफेद दीवार को देखते हैं, तो आम तौर से वह एक सफेद पर्दे की तरह दिखाई देती है। परन्तु हम कहते हैं कि दीवार की लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई है। यह सब हम खुली आँखों से नहीं, बल्कि कल्पना के द्वारा देखते हैं। इस प्रकार अनेक वस्तुएँ हमारी दृष्टि को भ्रान्त करती हैं। हमारा दार्शनिक मन विचार करके इसे समझ लेता है अर्थात अपनी ओर से कुछ मिलाकर हम वस्तु को तैयार कर लेते हैं। इसीलिए उसे apperception (अन्तर्दृष्टि) कहते हैं। अत: वस्तु को हम जिस रूप में देखते हैं, वह उसका वास्तविक रूप नहीं है। विज्ञान की थोड़ी सहायता से ही हम समझ सकते हैं।

मास्टर महाशय कहते हैं कि जिस मन के द्वारा हम आकाश को ही नहीं समझ पाते, उसी के द्वारा तो जगत को देखते हैं? आकाश का क्या तात्पर्य है? इसे समझना मुश्किल है। आकाश कहते हैं अवकाश को – एक वस्तु से दूसरी वस्तु के बीच जो रिक्तता है, वही आकाश है। अब यह आकाश कितनी दूर तक है? इसका उत्तर हम नहीं दे सकते। जहाँ तक वस्तु है, वहाँ तक आकाश है और उसके परे भी आकाश है। हमारी इन्द्रियाँ जहाँ तक हमें अनुभव कराती हैं, वहीं तक हम धारणा कर सकते हैं। आकाश का अनुभव करने के लिए हमारे पास कोई इन्द्रिय नहीं है। वैसे न्याय-शास्त्र में शब्द को आकाश का एक गुण कहा गया है – **शब्दगुणमाकाशः**। शब्द आघात से उत्पन्न होता है। आकाश के अभाव में आघात नहीं होता, इसलिए शब्द आकाश का गुण है। तो कहते हैं कि जब इस आकाश को ही हम इन्द्रियों से अनुभव नहीं कर पा रहे हैं, तो समस्त जगत को भला कैसे समझेंगे? अत: यथार्थ रूप में देखना कैसे सम्भव होगा? वास्तव में ठीक ठीक देखना हमारे लिए सम्भव नहीं है। इसीलिए दार्शनिकों द्वारा भिन्न भिन्न मतवादों की सृष्टि हुई है।

कोई कोई कहते हैं कि जगत वैसा ही है, जैसा कि हम इसे देखते हैं। परिवर्तनशील जगत में हो रहा परिवर्तन भी सत्य है। जब तक हम देख रहे हैं तब तक वह सत्य है, जब बदल जाएगा तब हम उसे सत्य नहीं कहेंगे। फिर कोई कहता है कि जगत को हम जो इस तरह का देख रहे हैं, वह वास्तव में थोड़ी-सी वस्तु है और उस पर हमारे व्यक्तित्व का कुछ अंश आरोपित हुआ है। अज्ञेयवाद कहता है कि वस्तुत: जगत का मूलतत्त्व हमारी बुद्धि के लिए अगम्य है। वस्तु के स्वरूप को हम समझ नहीं सकते। वस्तु जब हमारे सामने

इन्द्रियग्राह्य रूप में उपस्थित होती है, तब हम उसके स्वरूप को नहीं देखते, बल्कि अन्य वस्तुओं को उसके साथ मिश्रित अवस्था में देखते हैं। इसीलिए वस्तु के वास्तविक रूप को हम समझ नहीं पाते। काण्ट नामक पाश्चात्य दार्शनिक का कहना है – Thing-in-itself – असली वस्तु वह है, जिस पर कोई प्रलेप या आरोप न किया गया हो – वह अज्ञेय है।

ठाकुर कहते हैं, "एक तरह और है। आकाश को हम लोग ठीक नहीं देख रहे, जान पड़ता है कि वह जमीन से मिला हुआ है। अतएव आदमी सत्य कैसे देखे? भीतर विकार जो है।" इस विषय में दार्शनिक लोग कहते हैं कि आकाश का एक तल है, एक ऐसा स्थान है, जहाँ आकाश दिगन्त से मिल गया है। परन्तु यह सब हम मन के द्वारा सोचते हैं। वास्तव में यह सब गलत है। आकाश क्या सचमुच किसी दिगन्त से मिलता है? यदि मिलता है, तो कहाँ मिलता है? इसे कोई भी ठीक ठीक नहीं बता सकता, क्योंकि हमारी दृष्टि सीमित है। हमारी दृष्टि से परे भी जो आकाश है, उसे न देख पाकर भी हम उसे समझ लेते हैं। वैसे ही आकाश में धुँआ दिखाई देता है, पर आकाश उससे मलिन नहीं होता। अत: जो गुण आकाश के नहीं हैं, उन्हीं गुणों को हम आकाश पर आरोपित करके देखते हैं और उसको उसी गुणवाला समझते हैं। उसे मनुष्य यथार्थ रूप में कैसे देखेगा? जिस मन के द्वारा मनुष्य देखता है, वही तो विकृत है। ठाकुर कहते हैं कि विकार का रोगी जब किसी वस्तु को देखता है, तब वह विकार से अभिभूत होकर ही देखता है। विकार उसके मन की सहज अवस्था नहीं है, इसीलिए उसका ठीक ठीक देखना भी नहीं हो पाता।

तो फिर हमारी स्वाभाविक अवस्था क्या है? जब मन में राग-द्वेषादि की कोई तरंग न रहे, कामना-वासना का विक्षोभ न हो, तो वही मन की स्वाभाविक अवस्था है। इस स्वाभाविक अवस्था का बोध हमें नहीं हो पाता, इसीलिए हम जो भी देखते हैं, वह सब विकार के प्रभाव (नशे) में देखते हैं।

इसके बाद ठाकुर अपने मधुर कण्ठ से गा रहे हैं – (भावार्थ) – "हे शंकरि! यह कैसा विकार है? तुम्हारी कृपा से चरणरूपी धन्वन्तरि के मिलने पर ही यह दूर होगा।" धन्वन्तरि रोगी का विकार दूर करते हैं और माँ की कृपा होने पर हमारे मन का विकार दूर हो जाता है। हमारे मन का विकार क्या है? यही कि हम वस्तु-तत्त्व का विचार नहीं करते और स्वयं को निर्लिप्त नहीं कर पाते। सभी वस्तुओं के साथ स्वयं को आसक्त करके स्वार्थ की प्रेरणा से हम एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं। मास्टर महाशय कहते हैं, "मैंने किशोरी से कहा था कि छूँछे सन्दूक में है तो कुछ भी नहीं, परन्तु रुपये हैं – समझकर आदमी खींचातानी कर रहे हैं।" अर्थात अनित्य वस्तुओं को ही लेकर लड़ाई-झगड़े चल रहे हैं। भोगों के भीतर सुख मानकर हम लोग इन अनित्य वस्तुओं को लेकर ही खींचतान करते रहते हैं। यह भोगलिप्सा ही मनुष्यों के आपसी विरोध का मूल कारण है। परन्तु विचार करने पर हम देख पाते हैं कि इन भोगों के भीतर कोई तत्त्व नहीं है, कोई सार्थकता नहीं है।

आत्मा का आवरण तथा मुक्ति

इसके बाद मास्टर महाशय स्वगत में कहते हैं, "अच्छा, यह देह ही तो कुल अनर्थों का कारण है। यही सब देखकर ज्ञानी सोचते हैं, इस गिलाफ को छोड़ें तो जी बचे।" गिलाफ

को छोड़ने पर हम बच तो जायेंगे, परन्तु उसके भीतर की वस्तु को जाने बिना हम कैसे बच सकेंगे? गिलाफ का अर्थ है – आवरण। आत्मा के ऊपर अनेक प्रकार के आवरण चढ़े हुए हैं, जिनके द्वारा हम अनेक प्रकार की उपाधियों से जुड़कर स्वयं को विभूषित कर लेते हैं। यथा – 'मैं अमुक, मेरा घर, मेरी पत्नी, मेरा पुत्र' – इस प्रकार की अनेक उपाधियाँ हमारे साथ जुड़ी हुई हैं। ये ही हमारे खोल या गिलाफ हैं। इन खोलों को छोड़ने पर ही हम अपने वास्तविक स्वरूप को जान सकेंगे। इसीलिए वे सोच रहे हैं कि यह शरीर ही तो अनर्थ का मूल है, परन्तु ठाकुर कहते हैं, "क्यों? इस संसार को 'धोखे की टट्टी' कहा है, तो इसे 'आनन्द की कुटिया' भी तो कहा है! देह रही भी तो क्या? संसार 'आनन्द की कुटिया' भी तो हो सकती है।" रामप्रसाद के एक गाने में कहा है – "यह संसार धोखे की टट्टी है।" धोखे की टट्टी अर्थात जिसकी कोई सत्ता न हो, काल्पनिक वस्तु। किन्तु सचमुच अगर काल्पनिक होता, तब तो इस जगत के प्रति हमारा कोई आकर्षण ही नहीं रहता, अत: आनन्द इसमें भी है।

परन्तु मास्टर महाशय उसमें छिद्र ढूँढ़ते हुए कहते हैं, "निरवच्छिन्न आनन्द यहाँ कहाँ है?" ठाकुर तत्काल स्वीकार कर लेते हैं, "हाँ, यह ठीक है।" वास्तव में संसार में जो आनन्द है, वह टुकड़े टुकड़े में है, मानो गहन अन्धकारयुक्त आकाश में हजार हजार मीलों के अन्तराल पर कहीं कहीं एक नक्षत्र का दिखाई दे जाना।

अब मास्टर महाशय पूछते हैं – जगत में यदि निरवच्छिन्न आनन्द न हो, "तो फिर देहधारण की क्या आवश्यकता है? देख तो यह रहा हूँ कि कुछ कर्मों का भोग करने के लिए ही देह धारण करना होता है। वह क्या कर रहा है, वही जाने। बीच में हम लोग पिस रहे हैं।" उत्तर में ठाकुर कहते हैं, "चना अगर विष्ठा पर पड़ जाए तो भी उससे चने का ही पौधा निकलता है।" अर्थात आत्मा सर्वदा ही शुद्ध-पवित्र है। अपवित्र विषय के सम्पर्क में आकर वह अपवित्र अथवा अशुद्ध नहीं होता। कहते हैं कि जैसे अग्नि जगत में विभिन्न प्रकार के आकार लिए हुए प्रतीत होती है, उसी तरह एक ब्रह्म ही विभिन्न आकारों में प्रतीत होते हैं, परन्तु वे यथावत रहते हैं, केवल उनके रूप की भिन्नता प्रतिभासित होती है।

यह सुनकर मास्टर महाशय कहते हैं, "फिर भी अष्ट-बन्धन तो हैं ही।" अर्थात इन बन्धनों में पड़कर दु:ख-पीड़ा आदि का अनुभव तो होता ही है। ठाकुर इस अष्ट-बन्धन शब्द का संशोधन करते हुए कहते हैं, "अष्ट-बन्धन नहीं, अष्टपाश। और हैं तो भी क्या? उनकी कृपा होने पर एक क्षण में अष्टपाश छूट सकते हैं।" हम बन्धन में पड़कर रोते-पीटते हैं, परन्तु इसके पीछे जो रस्सी पकड़े हुए हैं, वे यदि उसे एक बार थोड़ा-सा हिला दें तो सारी गाँठें खुल जायेंगी।

केशवचन्द्र और ईशान

अब ठाकुर ने केशवचन्द्र सेन का प्रसंग उठाया। बंगाल के शिक्षित समाज में कभी उनका अदम्य प्रभाव था। अपने सम्पर्क में आने पर उनके मत में आये हुए परिवर्तन को ठाकुर ने देखा था। व्यापक रूप से उन्होंने शिक्षित समाज के सामने यह प्रश्न रखा, "अच्छा, केशव सेन इतना बदल कैसे गया? – बताओ तो।" केशवचन्द्र पहले निराकार ईश्वर पर काफी बल देते थे। बाद में उन्होंने ईश्वर को सर्वरूपों में देखना सीखा, विशेषकर

मातृभाव में उनकी उपासना सीखी और तथा सिखाते भी हैं। यह एक नयी बात है। ठाकुर यहाँ और कहते हैं, "परन्तु यहाँ खूब आता था।" इस संकेत के द्वारा यह स्पष्ट समझा जा सकता है कि ठाकुर के सम्पर्क में आकर ही उनके इस भाव का परिवर्तन हुआ है। इस बात को समझने की सामर्थ्य किसी में नहीं थी, इसीलिए उन्होंने स्वयं इसका उल्लेख किया। उनको जब कोई समझ न सके, तो उन्हें स्वयं ही समझाना पड़ेगा और इसीलिए तो उनका आगमन हुआ है। इसके बाद वे कहते हैं, "(उसने) यहीं से नमस्कार करना सीखा था।" केवल उपदेश के द्वारा नहीं, बल्कि ठाकुर ने स्वयं ही नमस्कार करके दूसरों को नमस्कार करना सिखाया है।

इसके बाद एक बात केवल सूत्ररूप में कही गयी है, स्पष्ट रूप से ज्यादा कुछ नहीं कहा गया है। कहते हैं, "एक दिन ईशान के साथ मैं गाड़ी पर कलकत्ता जा रहा था। उसने मुझसे केशव सेन की सब बातें सुनीं।" ईशान मूलतः कट्टर हिन्दू हैं। और इन लोगों के मतानुसार केशव नाम-मात्र के लिए हिन्दू-ब्राह्म हैं, परन्तु असल में तो वे ईसाई हो चुके हैं। ईशान पुरातन-पन्थी हैं और केशव सेन अभिनव-पन्थी। इन दोनों के परस्पर विरोधी मतों के बीच एक सहज सम्मिलन करना होगा। इसी का सूत्र देते हुए ठाकुर ने कहा कि ईशान ने मुझसे केशव की सब बातें सुनी। अर्थात मानो गंगा-यमुना का मिलन सम्पन्न हुआ।

इसके बाद ठाकुर कहते हैं, "हरीश अच्छा कहता है – यहाँ से सब चेक पास करा लेने होंगे, तब बैंक में रुपये मिलेंगे।" चेक कौन पास करेगा? जो सब कुछ जाने, तत्त्व को जाने। अर्थात ठाकुर के पास आकर ही परीक्षा होगी कि सत्य किसमें है, धर्म ठीक है या नहीं? मास्टर महाशय ने समझा कि गुरु के रूप में सच्चिदानन्द स्वयं ही चेक पास करते हैं। श्रीरामकृष्ण यहाँ जगद्गुरु के रूप में स्वयं जगत में सबके भीतर ओतप्रोत तत्त्व को उद्घाटित कर रहे हैं, उसका स्वरूप प्रकट कर रहे हैं। □(क्रमशः)□

सर्वोच्च सुख

निम्नकोटि के मनुष्यों को इन्द्रियजनित सुखों में ही आनन्द मिलता है। किन्तु जो लोग सुसंस्कृत एवं सुशिक्षित हैं; उन्हें चिन्तन, दर्शन, कला और विज्ञान में आनन्द मिलता है। आध्यात्मिकता उससे भी उच्च स्तर की है। विषय के असीम होने के कारण वह स्तर उच्चतम है। अतः शुद्ध उपयोगिता- वादी दृष्टिकोण से भी यदि आनन्द की प्राप्ति ही मानव का उद्देश्य हो, तो भी धार्मिक विचारों का अनुशीलन करना चाहिए, क्योंकि वही परमानन्द है – जिसका अस्तित्व है। इस प्रकार मुझे तो ऐसा लगता है कि एक अध्ययन के रूप में भी धर्म अत्यन्त आवश्यक है।

— स्वामी विवेकानन्द

विवेकानन्दाष्टम्

रवीन्द्रनाथ गुरुः

विवेकानन्द धन्यस्त्वं विवेकानन्दवर्द्धकः।
रामकृष्णपदाम्भोजषट्पदो धर्मरक्षकः ॥१॥

— विवेकरूपी आनन्द को बढ़ानेवाले, हे विवेकानन्द, आप धन्य हैं। आप सनातन वैदिक धर्म के संरक्षक भगवान रामकृष्णदेव के चरण-कमलों के भ्रमर हैं।

नरेन्द्र सफला नूनं संसारे ते नरेन्द्रता।
अखण्डं ब्रह्मचर्यं ते तनुते महनीयताम् ॥२॥

— मनुष्यों में श्रेष्ठता के कारण आपका नरेन्द्र नाम सार्थक ही है और आपका अखण्ड ब्रह्मचर्य आपकी महिमा का विस्तार करता है।

धर्मो भारतदेशस्य सत्याऽश्रितः सनातनः।
त्वमुद्गाता महान् तस्य सच्चिदानन्द ते नमः ॥३॥

— इस भारत देश का सनातन धर्म सत्य पर आश्रित है और आप उसके प्रवक्ता हैं, हे सच्चिदानन्द-स्वरूप आपको प्रणाम है।

त्वदीयादर्शसंदीप्त नरोऽस्तु नीतिमान् सुधीः।
वेदान्तकेसरिन् स्वामिन् विवेकानन्द ते नमः ॥

— आपके आदर्श से उद्दीप्त होकर मनुष्य नीतिमान तथा ज्ञानवान होवें। हे वेदान्तकेसरी स्वामी विवेकानन्द, आपको प्रणाम है।

त्वद्विना नैव सत्सौख्यं साम्यं वा सुदशाऽथवा।
यत्र त्यागस्तथा सेवा तत्र त्वमुद्यशो यतिः ॥

— आपको अपनाये बिना सच्चा सुख, समता अथवा भली दशा असम्भव है। जहाँ त्याग और सेवा का अनुष्ठान होता है, वहीं आपके समान यशस्वी यतिगण उपस्थित रहते हैं।

त्यागसेवामनोवृत्तिः क्षेमंकरी नृणां भुवि।
नीतिशिक्षा हि भवतां सद्गतिजननी ध्रुवा ॥

— इस संसार में त्याग और सेवा का भाव ही लोगों के लिए हितकारी है — आपकी यह वाणी निश्चय ही उत्तम गति प्रदायिनी है।

त्वदनुसरणं श्रेयः सुधियामेष निर्णयः।
विवेक भुवनेश्वर्यास्तनयं त्वामिहाश्रये ॥

— बुद्धिमान लोगों के मतानुसार आपका अनुसरण करना ही श्रेयस्कर है। अतः हे भुवनेश्वरी के सुत विवेकानन्द, इस संसार में मैं आपकी ही शरण लेता हूँ।

जगद्धिताय चात्मनो मोक्षार्थं त्वां स्मराम्यहम्।
प्रभुभक्तमहर्निशं विवेक त्वं शुभं कुरु ॥

— हे प्रभु के भक्त विवेकानन्द, संसार के कल्याण तथा अपनी मुक्ति के लिए मैं आपका दिन-रात स्मरण करता हूँ। आप सबका मंगल करें।

मानस-रोग (३२/१)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'मानस' के वर्तमान प्रकरण पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उनके बत्तीसवें प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापन करते हैं। – सं०)

'मानस' में मन के रोगों का बड़े विस्तार से विवेचन किया गया है तथा उनकी चिकित्सा-पद्धति भी बतायी गई है। अपने मन के रोगों या दुर्गुणों को जान लेना ही उन्हें नष्ट करने की दिशा में उठाया गया एक बड़ा कदम है। ईर्ष्या की चर्चा चल रही है। अतः इसी के सन्दर्भ में एक बड़े ही मनोवैज्ञानिक सूत्र की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा। ईर्ष्या चाहे किसी भी व्यक्ति से की जाय, वह दुखदायी और घातक तो अवश्य है, परन्तु एक व्यक्ति ऐसा भी है, जिससे ईर्ष्या करना सर्वाधिक भयंकर और घातक है। किससे? इसका उत्तर काकभुसुंडि-गरुड़ संवाद में मिलता है। काकभुसुंडि ईर्ष्या के उस परम भयानक स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं –

जे सठ गुर सन इरिषा करहीं। रौरव नरक कोटि जुग परहीं ॥ ७/१०७/५

ईर्ष्या जब गुरु से हो जाय, तो वही ईर्ष्या का सर्वाधिक भयंकर रूप है। ईर्ष्या की वृत्ति इतनी व्यापक है कि वह गुरु के प्रति भी हो सकती है। भूतकाल में और वर्तमान में भी ऐसे अगणित दृष्टान्त दिखाई देते हैं कि जहाँ गुरु के प्रति भी ईर्ष्यावृत्ति का उदय हुआ है। काशी में एक बड़े विद्वान थे। बड़े सुयोग्य शास्त्रज्ञ थे। उन्होंने सारे देश का भ्रमण किया और शास्त्रार्थ में विद्वानों को परास्त किया। सबको पराजित करके जब वे काशी आए, तो स्वभावतः गुरुजी के पास गये। गुरुजी शिष्य की महान सफलता पर बड़े प्रसन्न थे। उन्होंने बड़ी सरलता से अपने विद्वान शिष्य से कहा, "मैंने सुना है कि तुमने शास्त्रार्थ में सबको हरा दिया है!" तो उसने तत्काल कहा, "बस, एक आप ही बाकी हैं।" इसका अर्थ क्या हुआ? एक ओर तो उनके चरणों में प्रणाम और दूसरी ओर प्रतिद्वन्द्विता। अभिप्राय यह कि मैं किसी-न-किसी से छोटा हूँ – यह बात उन्हें बुरी लगती है। मानो गुरु के प्रति भी उनके मन में यह वृत्ति आती है कि यदि इन्हें भी हरा दें तो मेरी अद्वितीयता निर्विवाद हो जायेगी, परन्तु केवल बाह्य व्यावहारिक संकोच के कारण शिष्य को ऐसा करने में कठिनाई होती है। इसीलिए काकभुसुंडि जी के इन वाक्यों में वह व्यंग्योक्ति के रूप में प्रगट होती है। गुरु के प्रति ईर्ष्या की जो इतनी बड़ी निन्दा की गई, इसमें एक बड़ा सूक्ष्म मनोविज्ञान है। जैसे एक रोगी को अपने रोग का ज्ञान न होना एक भयानक स्थिति है, लेकिन वैद्य के प्रति दोषबुद्धि उससे भी अधिक भयानक और घातक स्थिति है।

यही ईर्ष्या का सर्वाधिक विकृत रूप है। इसमें सबसे विचित्र समस्या यह है कि ईर्ष्यालु व्यक्ति अपने जीवन में जिसे गुण समझता है, उसी को दूसरे के जीवन में दोष के रूप में देखता है। स्वयं के जीवन में जिसे प्रशंसनीय मानता है, उसी को दूसरों के जीवन में देखकर उसकी निन्दा करता है। यह बड़ा अद्‌भुत विरोधाभास है। व्यक्ति स्वयं तो धन चाहता है, किन्तु दूसरों के पास धन देखकर उसकी निन्दा करता है। इसके मूल में ईर्ष्या ही है। ईर्ष्या के कारण बुद्धि भ्रान्त हो जाती है और व्यक्ति गुण-दोष के लिए दोहरा मापदण्ड बना लेता है। इसी दोहरे मापदण्ड के कारण परशुरामजी जैसे महापुरुष व्यंग्य तथा उपहास के पात्र बने। गोस्वामीजी ने इसी कारण उन पर व्यंग्य किया। परशुराम जी भगवान राम की विनम्रता से बड़े प्रभावित होते हैं। भगवान राम जब उन्हें प्रणाम करते हैं, उनकी स्तुति करते हैं, तब उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती है, किन्तु लक्ष्मणजी की व्यंग्योक्ति और कटाक्ष उन्हें अच्छे नहीं लगते। वे श्रीराम को उलाहना देते हुए कहते हैं कि यह छोटा राजकुमार तुम्हारा भाई होने योग्य नहीं है –

सहज टेढ़ अनुहरइ न तोहि। नीचु मीचु सम देख न मोही॥ १/२७७/८

– यह तो स्वभाव से ही टेढ़ा है, तुम्हारा अनुसरण नहीं करता। यह नीच नहीं समझ पा रहा है कि मैं कालस्वरूप हूँ। भगवान राम तो अत्यन्त विनम्र हैं, वे तो परशुरामजी की बात का खण्डन भी नहीं करते, किन्तु लक्ष्मणजी ने कहा कि महाराज, मैं छोटा भाई तो प्रभु का हूँ, परन्तु अनुयायी तो आपका ही हूँ –

मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया। १/२७८/१

अभिप्राय यह कि जो क्रोध और टेढ़ापन आपमें हैं, वही मुझमें भी है। अब यदि आप इसे मेरा दोष कहते हैं, तो यही दोष तो आपमें भी है। परन्तु आप तो यह मानकर चल रहे हैं कि क्रोध और टेढ़ापन मेरे दोष हैं और वे ही आपमें गुण हैं। मानो क्रोध और टेढ़ेपन का अधिकार केवल आपको ही है, बाकी लोग सरल तथा विनम्र हों, उनमें क्रोध का लेशमात्र भी न हो। यह कैसी बात है? या तो आप यह देखकर सन्तुष्ट हो जाइए कि मैं सही अर्थों में आपका अनुयायी और अनुगामी हूँ। अभी तक आप अकेले थे, पर अब आपको एक अनुयायी मिल गया। लेकिन यदि आपको लगे कि क्रोध और टेढ़ापन बुरा है, जैसा कि मुझे देखकर आपको लग रहा है, तब तो इस समस्या का समाधान बड़ा ही सहज है। इन दोनों में से किसी एक का चुनाव आप कर लीजिए। या तो आप मुझे अपने अनुयायी के रूप में देखकर सन्तुष्ट हो जाइये – **मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया** अन्यथा **परिहरि कोप** – क्रोध छोड़ दीजिए। यदि आप बुरा समझकर क्रोध को छोड़ देंगे, तो मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ, आपका अनुयायी होने के नाते मैं भी क्रोध का परित्याग कर दूँगा। किन्तु परशुराम जी की समस्या क्या है? यह रोग इतना विचित्र है कि ईर्ष्यालु व्यक्ति क्रोध को स्वयं के जीवन में गुण, पर दूसरों के जीवन में दोष मानता है। इतना ही नहीं, बल्कि वह तो दूसरों के गुण में भी दोष ही देखता है। इसी को असूया-वृत्ति कहते हैं। असूया का अर्थ है – **परगुणेषु दोषान्वेषणम्** – दूसरों के गुण में भी दोष देखना। जहाँ ईर्ष्या होगी, वहाँ उसके

साथ यह असूया-वृत्ति भी अवश्य जुड़ी हुई होगी। ऐसा कोई ईर्ष्यालु व्यक्ति हो ही नहीं सकता, जिसमें असूया-वृत्ति न हो, और यह असूया-वृत्ति ही ईर्ष्या की जटिलता है। जैसे यदि कोई व्यक्ति सबमें दोष देखता हो, ईर्ष्या का रोगी हो, तो उसे कम-से-कम डॉक्टर या वैद्य के प्रति तो गुणबुद्धि रखना चाहिए, नहीं तो वह चिकित्सा कैसे ग्रहण करेगा, स्वस्थ कैसे होगा? अगर उसे लगे कि चिकित्सक भी ठीक नहीं है, तब क्या होगा? गुरु से ईर्ष्या करने का तात्पर्य क्या है? मन के रोगों की जो चिकित्सा या निराकरण करनेवाला है, वह वैद्य कौन है? गुरु ही तो वह वैद्य है –

सद्‌गुर बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषय कै आसा॥ ७/१२२/६

गुरु की भूमिका बड़ी विलक्षण तथा कठिन है और रोगी ईर्ष्यालु और असूया-वृत्तिवाला है। वह सबमें दोष ही देखता है। अब वैद्य की समस्या क्या है? वैद्य स्वयं भी दोषदर्शी होता है। शास्त्रों में दोषदर्शन की निन्दा की गई है। 'मानस' में भक्तों का लक्षण बताते हुए कहा गया है –

आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा॥ ३/३६/४

परन्तु सपने में भी दूसरों के दोष न देखना – भक्त का यह लक्षण अगर किसी वैद्य में आ जाय, तब क्या होगा? यदि वैद्य रोगी से कहने लगे कि आपमें मुझे कोई दोष नहीं दिखता, कोई रोग नहीं दिखता, आप पूर्ण स्वस्थ हैं, किसी दवा या पथ्य की आवश्यकता नहीं है, तब क्या होगा? वह वैद्य भक्त तो होगा, लेकिन वैद्य नहीं हो सकता? बल्कि उसकी भक्ति तो रोगी के लिए बड़ी घातक सिद्ध होगी।

इसका अभिप्राय यह है कि दोष देखनेवाला ही सही अर्थों में वैद्य हो सकता है। दोष-दर्शन में ही वैद्य की सार्थकता है। परन्तु वैद्य के इस दोष-दर्शन में असूया-वृत्ति नहीं है। वैद्य दोष को ही दोष के रूप में देखता है। परन्तु असूया-वृत्तिवाला ईर्ष्यालु व्यक्ति दूसरों के गुण में भी दोष देखता है और यही असूयाग्रस्त रोगी और वैद्य की वृत्ति में मूल अन्तर है। वैद्य के दोष-दर्शन के पीछे उद्देश्य है – रोगी व्यक्ति को स्वस्थ बनाना। इसलिए मन की समस्याओं का निदान चाहनेवाले व्यक्ति को वैद्य के पास – सन्त और गुरु के पास जाना चाहिए। परन्तु यदि कोई ईर्ष्या रोग से ग्रस्त हो और असूया-दृष्टि लेकर सन्त तथा गुरु की खोज करे, तो क्या उसे कभी कोई सन्त या गुरु मिलेंगे? वह सन्त को भी देखकर यही कहेगा कि इनमें तो सन्त के कोई लक्षण ही नहीं हैं, ये भला गुरु कैसे हो सकते हैं? शास्त्र कहते हैं कि दोष नहीं देखना चाहिए और ये मेरे दोष ही देखते हैं, अतः ये सन्त तो बिलकुल भी नहीं हैं।

इस असूया-वृत्ति का परिणाम क्या होगा? रामायण में इसका बड़ा मधुर संकेत किया गया है। शिष्य ऐसा हो जिसे गुरु में दोष नहीं, बल्कि गुण-ही-गुण दिखाई दें और गुरु इतना सजग हो कि वह शिष्य के दोषों को सूक्ष्मता से देख सके। इन दोनों का जब सामंजस्य होगा, तभी सही अर्थों में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध स्थापित होगा। 'मानस' में काकभुसुंडि जी ने जो यह कहकर दोषदर्शी शिष्य की आलोचना की है –

जे सठ गुर सन इरिषा करहीं। रौरव नरक कोटि जुग परहीं॥ ७/१०७/५

यह आलोचना दूसरों की नहीं है, अपितु यहाँ उन्होंने अपने स्वयं के जीवन की अनुभूति को प्रगट किया है। उनके द्वारा मानस-रोगों के वर्णन का तात्पर्य यह है कि जैसे डॉक्टर या वैद्य के विषय में आपको विश्वास तब होता है, जब आप सुनते हैं कि यह डॉक्टर या वैद्य बहुत अच्छे हैं। इससे प्रेरणा तो प्राप्त होती है, लेकिन किसी रोगी को उनकी चिकित्सा से स्वस्थता का लाभ हुआ हो और वह अपनी अनुभूति आपको बता दे कि मुझे यह रोग हुआ था और उस वैद्य की चिकित्सा से दूर हो गया, तो उसका परिणाम यह होगा कि हमारे अन्तर्मन में उस वैद्य के प्रति विश्वास उत्पन्न होगा कि हम भी उस वैद्य की चिकित्सा का लाभ लें। काकभुसुंडिजी ने यह जो मन के रोगों का वर्णन किया और उनकी चिकित्सा बताई, यह उनके जीवन की अनुभूति है। वे स्वयं सभी प्रकार के रोगों से ग्रस्त रहे। रामायण की दृष्टि से तो वे सबसे बड़े मनोरोगी रहे और उनके जीवन में इस रोग की पराकाष्ठा है। उन्हें गुरु से ईर्ष्या हो गई। उन्होंने स्वयं अपनी आत्मकथा सुनाते हुए गरुड़जी को बड़े विस्तार से बताया कि किस तरह से मैं मनोरोग से ग्रस्त हुआ, कितने प्रकार के रोगों के लक्षण मुझमें प्रगट हुए, किन कारणों से मैं अस्वस्थ रहा और अन्त में किस प्रकार स्वस्थ हुआ। इसीलिए मानसरोग के सन्दर्भ में काकभुसुंडि जी के उपदेश सर्वाधिक सार्थक हैं, क्योंकि ये उनकी अनुभूतियों से प्रसूत हैं।

काकभुसुंडि जी ने बताया कि उनका पिछला जन्म अयोध्या में हुआ था। यह एक बड़ा विलक्षण संयोग था। 'मानस' की एक मान्यता यह भी है कि व्यक्ति पर भूमि का प्रभाव पड़ता है। हम जिस भूमि पर जाएँगे, वहाँ के वातावरण में, कण कण में उस प्रकार के भावों का प्रवाह चारों ओर होता रहता है और उसका प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है। किन्तु उसके साथ एक विडम्बना यह है कि उस प्रभाव को प्रत्येक व्यक्ति ग्रहण नहीं कर पाता। उन भावों का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति पर समान होते हुए भी यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति में ग्रहणशीलता समान हो और वह समान रूप से उस भाव को ग्रहण कर पाए। ग्रहणशीलता न हो, तो न देश का प्रभाव पड़ता है, न काल का। इसीलिए अच्छे-से-अच्छे देश में जन्म लेकर, श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ काल में रहकर और बड़े-से-बड़े महापुरुष का सान्निध्य पाकर भी कई लोगों के जीवन में परिवर्तन नहीं होता। इसके पीछे कारण एकमात्र यह है कि उनमें ग्रहणशीलता नहीं है।

ग्रहणशीलता का तात्पर्य यह है कि जैसे पानी की उपलब्धि के लिए पानी का बरसना ही यथेष्ट नहीं है। वर्षा तो खूब हुई – समाचार-पत्रों में पढ़ते हैं कि इतने मिलीमीटर वर्षा हुई। परन्तु समाचार-पत्र का यह समाचार सत्य होते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति के लिए सत्य नहीं होता। जिस व्यक्ति ने अपने पात्र को उस वर्षा में रखकर मापा है, उसे दिखाई देता है कि कितना जल बरसा है। पर यदि कोई अपने घड़े को उल्टा रख दे, तो चाहे दिन-रात वर्षा होती रहे, उसके घड़े में एक बूँद भी पानी नहीं मिलेगा। उसके लिए तो मानो एक बूँद भी पानी नहीं बरसा है। ग्रहणशीलता का अर्थ है – घड़े को सीधा रखना। घड़े की एक

विशेषता यह है कि यदि उसे उल्टा करके रख दें, तो लगता है कि वह परिपूर्ण है, कहीं कोई कमी नहीं है, परन्तु यदि सीधा कर दें, तो उसका खालीपन दिखाई दे जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि जो अपने खालीपन को छिपाने की चेष्टा करता है, वह ग्रहणशील नहीं है। परन्तु जो गुरु के सामने, सन्त के सामने अथवा तीर्थ में अपने खालीपन को सामने कर दे, अपने अन्तःकरण के अभाव को स्वीकार कर ले, वही ग्रहणशील है। यह ग्रहणशीलता ही सबसे बड़ी कसौटी है कि वह व्यक्ति उस वस्तु को पाने का अधिकारी है या नहीं।

काकभुसुंडि जी ने अपनी आत्मकथा में मानो इसी सत्य को प्रगट किया। उनका जन्म अयोध्या में हुआ। वही अयोध्या, वही राम, किन्तु तब वे उसका रस नहीं ले पाए। इसका कारण वही उल्टे घड़े का रोग था। जैसे किसी पित्त-ज्वर से पीड़ित व्यक्ति को मिश्री खाने को दी जाये, तो वह उसे कड़वी लगती है। अब मिठास उसे कैसे मिलेगी? उसके लिए मिश्री को मीठा बनाने की आवश्यकता नहीं है, उसके मुँह में जो कड़वापन है, उसी को दूर करने की आवश्यकता है। अभिप्राय यह है कि वह व्यक्ति अपने ही मन के दोषों के कारण इस रस को ग्रहण करने में असमर्थ है। रस में परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं, बल्कि उस रस को ग्रहण करने में हमारा जो मानसिक विकार बाधक है, उसे दूर करने का प्रयत्न करके हम स्वस्थता प्राप्त करें। तब जैसे पित्त-ज्वर दूर होते ही व्यक्ति को मिश्री के मिठास की अनुभूति होने लगती है, उसी प्रकार भगवच्चरित्र में , भगवद्गुण में, भगवत्कृपा में रसानुभूति के लिए भी मन का स्वस्थ होना आवश्यक है।

काकभुसुंडिजी ने अपनी आत्मकथा के आरम्भ में ही बता दिया था कि जब अयोध्या में मेरा जन्म हुआ तो एक बार वहाँ अकाल पड़ गया। अब इस घटना का उन्होंने क्या अर्थ लिया? उन्होंने सोचा कि अयोध्या की भूमि तो बड़ी दिव्य कही जाती है, यह भगवान राम की जन्मभूमि है, फिर यहाँ अकाल कैसे पड़ गया? इसका अर्थ उन्होंने यह लिया कि वास्तव में स्थान या ईश्वर का कोई महत्व नहीं है। महत्व होता तो कम-से-कम अयोध्या में तो अकाल नहीं पड़ता। जब हमारी इच्छा के विपरीत कोई बात हो जाय, तो हम उसे ईश्वर की कृपा अथवा सामर्थ्य की कमी के रूप में देखने लग जाते हैं, बुद्धि की यह कैसी विडम्बना है? यही विपरीत बुद्धि भुशुंडिजी के मन में उत्पन्न हो गई। तब उन्होंने क्या किया? अयोध्या छोड़कर उज्जैन चले गये। उज्जैन में चारों ओर हरे-भरे खेत थे। खूब अन्न था। उन्होंने अपने मन में तर्क किया – भगवान राम किसी काम के नहीं, शंकरजी बड़े अच्छे हैं, ये ही हमारे काम के हैं। कई लोग अपना इष्टदेव इसीलिए बदलते रहते हैं। जिस इष्ट से कामनापूर्ति नहीं हुई, उसे छोड़ दिया, दूसरा बना लिया। जिसने कामना पूर्ण कर दी उसे श्रेष्ठ बना लिया, इष्ट बना लिया।

गयउँ उजेनी सुनु उरगारी। दीन मलीन दरिद्र दुखारी॥ ७/१०५/१

एक साथ कई शब्द जोड़ दिये गये हैं। इसका अभिप्राय यह है कि उनमें दैन्य का भाव तो था ही और साथ ही मन में मलिनता तथा दरिद्रता भी थी। दरिद्रता की व्याख्या करते हुए कहा गया कि दरिद्रता मोह है –

मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। ७/१२०/४

काकभुसुंडि जी कहते हैं कि उज्जैन जाकर मेरे मन में भगवान शंकर के प्रति आदर तथा श्रद्धा के भावों का उदय हुआ। मैंने एक विद्वान से शिवमंत्र की दीक्षा ले ली। लेकिन फिर वही बात आती है, चाहे अयोध्या हो चाहे उज्जैन, चाहे भगवान राम हों चाहे भगवान शंकर, हैं तो वे एक ही। परन्तु साधना करते समय उन्हें शिव तथा राम की तुलना और शिव की प्रशसा तथा विष्णु की निन्दा करने में ही सर्वाधिक आनन्द आता था। किसी दिन गुरुजी ने यह बात सुन ली। उन्होंने तुरन्त शिष्य को बुलाकर उसे बड़े प्रेम से कहा कि यह तुम विष्णु और शिव में कैसी तुलना करते हो? विष्णु भजन करते हैं शिव का और शिव भजन करते हैं विष्णु का –

रामहि भजहिं तात सिव धाता। नर पावँर कै केतिक बाता॥ ७/१०६/३

और शिष्य पर इसका क्या प्रभाव हुआ? गुरुजी की बात को सुनकर उनको अपनी कमी का भान होने की जगह उल्टे –

हर कहुँ हरि सेवक गुर कहेऊ। सुनि खगनाथ हृदय मम दहेऊ॥ ७/१०६/५

– गरुड़जी, गुरुदेव की बात सुनकर मेरा हृदय जलने लगा। लगा कि ये किस काम के गुरु हैं, मैंने व्यर्थ ही इनसे दीक्षा ले ली। जितनी निष्ठा और विश्वास शंकरजी के प्रति मेरे मन में है, इनमें तो उतना भी नहीं है। ये तो बड़े दुर्बल हृदय के हैं, हरि और शंकर को एक बता रहे हैं। इनकी निष्ठा तो बड़ी हीन है।

गुरु के प्रति दोषदृष्टि हो गई। यही वृत्ति आगे चलकर साधना के सन्दर्भ में उन्हें अपने गुरु के प्रति ईर्ष्यालु बना देती है। उन्हें लगता है कि मेरी तुलना में गुरु की निष्ठा, विश्वास, साधना आदि कुछ भी नहीं हैं। भुशुंडिजी के मन में निष्ठा की प्रगाढ़ता का अभिमान इतना बढ़ गया कि एक बार वे भगवान शंकर के मन्दिर में बैठकर शिवमंत्र का जप कर रहे थे। उसी समय गुरुजी भी भगवान शंकर का दर्शन करने आए। भुशुंडिजी ने देखा कि गुरुजी आए हैं, पर सोचने लगे कि उठकर प्रणाम करें या न करें? न देखा होता तो कोई बात नहीं थी। ध्यान में अगर कोई व्यक्ति तल्लीन हो गया हो, तदाकार हो गया हो और उस समय यदि दिखाई न देता हो, तो कोई बात नहीं, परन्तु भुशुंडिजी को लगा कि उठता तो वही है जो हल्का होता है। ये तो कहने भर के गुरु हैं, असली गुरु तो मैं ही हूँ। अत: मैं बैठा रहूँ और ये खड़े रहें, तभी ठीक होगा। भुशुंडिजी ने अपनी आत्मकथा सुनाते हुए कहा –

एक बार हर मंदिर जपत रहेउँ सिव नाम।
गुर आयउ अभिमान तें उठि नहिं कीन्ह प्रणाम॥
सो दयाल नहिं कहेउ कछु उर न रोष लवलेस।
अति अघ गुर अपमानता सहि नहिं सके महेस॥ ७/१०६ (क-ख)

यहाँ बड़ी विचित्र बात हो गई। गुरु के द्वारा शिष्य का दोष न देखना स्वभाव की कोमलता का परिचायक तो हुआ, परन्तु जो कार्य गुरु ने नहीं किया वह शंकरजी ने किया। वैसे चाहते तो गुरुजी भी फटकार सकते थे कि तू बड़ा अभिमानी हो गया है। परन्तु सरल

स्वभाव के कारण उन्हें लगा कि मन के जप में डूब जाने के कारण शायद यह उठ नहीं पा रहा है। यह तो बड़ी अच्छी बात है कि जप में इतनी तल्लीनता, इतनी तदाकारता आ गई है। तब दोष-दर्शन की भूमिका किसने स्वीकार की? बिल्कुल उल्टी बात हो गई।

भगवान का जो नाम मनोरोगों को दूर करनेवाली सबसे दिव्य औषधि है, वही उनके जीवन में अभिमान-रूप मनोरोग का वर्धक बन गया। जब भुशुंडिजी के अन्तःकरण में अहं की वृद्धि हुई, तो गुरुजी ने तो उन्हें क्षमा कर दिया पर त्रिभुवन-गुरु भगवान शंकर ने वैद्य की भूमिका स्वीकार कर ली। 'मानस' में शंकरजी का नामकरण किया गया –

तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना। आन जीव पाँवर का जाना॥ १/१११/५

भगवान शंकर त्रिभुवन-गुरु हैं। इसका अभिप्राय यह है कि गुरु के रूप में कोई सन्त अपने कोमल स्वभाव के कारण शिष्य का दोष-दर्शन भले ही न करें, किन्तु त्रिभुवन-गुरु भगवान शंकर भुशुंडिजी की निष्ठा और साधना की आड़ में छिपे उनके अभिमान को देखकर फटकारते हुए कहते हैं –

रे हतभाग्य अग्य अभिमानी। ७/१०७/१

– अरे हतभागा! हतभागा अर्थात – गुरु न मिले होते तो कहते, अभागा है। किन्तु इतने महान गुरु पाकर भी तेरे अन्तःकरण में विनम्रता के स्थान पर अभिमान आ गया, इससे तो यही लगता है कि तेरा भाग्य ही फूट गया है। और साथ ही कह दिया -

जद्यपि तव गुर कें नहिं क्रोधा। अति कृपाल चित सम्यक बोधा॥ ७/१०७/२

यद्यपि गुरु ने क्रोध नहीं किया, परन्तु गुरु की भूमिका तो क्रोध की भूमिका है, क्योंकि गुरु शिष्य के दोषों को देखकर क्रोध अवश्य करेगा। जब तक वह क्रोध के द्वारा शिष्य के दोषों का निराकरण नहीं करेगा, तब तक शिष्य के मन में स्वस्थता नहीं आएगी। परन्तु उस समय उनके गुरुदेव की जो भूमिका है, वह वैद्य की नहीं, बल्कि भक्त और सन्त की भूमिका है। भगवान शंकर ने कहा कि तुम्हारे गुरु ने अपने सन्त स्वभाव के कारण तुम्हारे दोषों को नहीं देखा, पर मैं तुम्हें दण्ड दूँगा।

बैठ रहेसि अजगर इव पापी। सर्प होहि खल मल मति ब्यापी।
महा बिटप कोटर महुँ जाई। रहु अधमाधम अधगति पाई॥ ७/१०७/७-८

भगवान शंकर जो उन्हें शाप देते हैं – तू अजगर की तरह बैठा हुआ है, जा तू अजगर ही हो जा। और साथ ही यह भी कह देते हैं कि इतने बार तुम्हें सर्प के रूप में जन्म लेना पड़ेगा। इसमें यही संकेत किया गया है कि उज्जैन की दिव्य भूमि में, महाकाल के सान्निध्य में, इतने महान गुरु के होते हुए, भगवान का नाम जप करते हुए भी इन सबका परिणाम कल्याणकारी न होकर उल्टा ही हो गया। ऊपर उठने की जगह पर वे नीचे गिर गये। उनका कल्याण कब हुआ? तब, जब पुनः मनुष्य के रूप में उनका जन्म हुआ। इस बार उन्हें असली क्रोधी गुरु मिल गये। यह बड़ी विचित्र बात है, जब गुरु शान्त मिले तो उन पर श्रद्धा नहीं हुई, बल्कि उनमें दोष देखते रहे पर अन्तिम जन्म में उन्हें जो गुरु मिले, वे महर्षि लोमश बड़े ही क्रोधी थे। उस समय भुशुंडिजी के मन में भगवत्तत्व की जिज्ञासा उत्पन्न हो

चुकी थी, क्योंकि भगवान शंकर ने भुशुंडिजी ऊपर क्रोध करके उन्हें शाप दिया तब उनके गुरुजी ने भगवान शंकर की स्तुति करते हुए उनसे कृपायाचना की थी कि –

संकर दीनदयाल अब एहि पर होहु कृपाल।
साप अनुग्रह होइ जेहिं नाथ थोरेहीं काल ॥ ७/१०८ (घ)

यह भी गुरु की कोमलता ही थी कि वे शंकरजी से प्रार्थना करते हुए कहते हैं – आपने इसे दण्ड तो दे ही दिया, लेकिन यह दण्ड अन्त में कल्याण की सृष्टि करनेवाला हो। गुरुजनों का जो दण्ड होता है, उसमें यही एक अन्तर होता है।

दोषदर्शन दो प्रकार के होते हैं और दण्ड भी दो प्रकार के होते हैं। एक दोषदर्शन तो वह होता है, जो दूसरों को नीचा दिखाने के लिए होता है। उसका वर्णन देवर्षि नारद के प्रसंग में देखने को मिलता है। देवर्षि नारद जब विश्वमोहिनी की स्वयंवर सभा में जाते हैं, तब उनके दोनों तरफ दो रुद्रगण बैठ जाते हैं। नारदजी तो यह सोचकर प्रसन्न हैं कि भगवान ने मुझे अपनी सुन्दरता दे दी है, परन्तु उनकी समस्या यह है कि उस सुन्दरता को स्वयं उन्होंने अभी तक देखा नहीं है, केवल कल्पना कर ली है कि मैं भगवान विष्णु के जैसा सुन्दर दिख रहा हूँ। यदि उन्होंने सभा में आने के पहले दर्पण देख लिया होता, तो वे इस सभा में आते ही नहीं। लेकिन वे तो अपने आप में इतने भ्रान्त हैं कि बिना आत्मनिरीक्षण किए ही उन्होंने कल्पना कर ली कि मैं परम सुन्दर हूँ।

यह समस्या केवल नारद की ही नहीं है, संसार में अधिकांश लोगों को यही भ्रम रहता है। मनुष्य स्वयं को ही सर्वाधिक बुद्धिमान, सुन्दर, सुयोग्य या किसी-न-किसी रूप में श्रेष्ठ मान बैठता है। उसे कहीं-न-कहीं यह भ्रान्ति होती है कि भगवान ने सर्वश्रेष्ठ बुद्धि मुझे ही दी है, जो अन्य किसी के पास नहीं है। यही भ्रान्ति है। नारदजी के दाएँ और बाएँ, ये जो दो रुद्र बैठे हैं, वे क्या कर रहे हैं –

करहिं कूटि नारदहि सुनाई। नीकि दीन्ह हरि सुंदरताई ॥ १/१३४/३

दोनों आपस में बातें कर रहे हैं। बीच में नारदजी बैठे हैं। उनकी बातें पहले बीच में बैठे नारदजी के कानों में आकर तब दूसरी ओर बैठे रुद्र तक पहुँचती हैं। और नारदजी को ही सुनाना उनका उद्देश्य भी है। सुनकर नारदजी खूब प्रसन्न हो रहे हैं। इन दाहिने-बाएँ-वालों से खूब सावधान रहना चाहिए। ये लोग जब प्रशंसा करते हैं तो उसके पीछे उद्देश्य कुछ दूसरा ही होता है? रुद्रगणों का उद्देश्य वस्तुतः नारदजी को अपमानित कराना था। उन्हें तो नारद की आकृति बन्दर के समान दिखाई दे रही थी। अगर वे सचमुच नारद के हितैषी होते तो वही बात वे नारदजी से पहले ही कह देते, जो उन्होंने उनके अपमानित होने के बाद कही। सभा में जब भगवान विष्णु आए और विश्वमोहिनी को लेकर चले गये, तब उन्हीं पूर्व-प्रशंसक रुद्रों ने व्यंग्य करते हुए उनसे जाकर अपना मुख शीशे में देखने को कहा –

निज मुख मुकुर बिलोकहुं जाई ॥ १/१३५/६

इसका अभिप्राय है कि उनके दोषदर्शन में नारद को अपमानित करने की वृत्ति है। पर गुरु जब शिष्य का दोष देखते हैं, तब उसे अपमानित करने के लिए नहीं देखते। जैसे, माँ

जब बच्चे की गन्दगी देखती है तो उससे घृणा करने के लिए नहीं देखती, बल्कि उसका मन तो बच्चे की गन्दगी को साफ करने के लिए व्यग्र रहता है। वह चाहती है कि मेरे बच्चे को कोई गन्दा न कहे। माँ द्वारा बालक के दोष-दर्शन की वृत्ति के पीछे यही भाव है। वैसै ही गुरु या वैद्य के दोषदर्शन का उद्देश्य यही है कि शिष्य के दोष दूर हो जायँ, रोगी का रोग दूर हो जाय, साधक के जीवन में आए हुए दोष दूर हो जायँ और वह स्वस्थ हो जाय। इसी प्रकार गुरु द्वारा दिये गये दण्ड का उद्देश्य केवल चोट पहुँचाना नहीं, अपितु शिष्य का कल्याण ही होता है। भुशुंडिजी के गुरु ने भगवान शंकर से प्रार्थना की और इसका परिणाम यह हुआ कि शंकरजी के दण्डरूप वह शाप भुशुंडिजी के लिए मानो कड़वी दवा की भाँति कल्याणकारी सिद्ध हुआ। गुरु ने संकेत रूप में बता दिया कि यह भी दवा है।

मीठा लगनेवाला वरदान भी दवा है और कड़वा लगनेवाला शाप भी दवा है। औषधि होने पर कड़वी वस्तु भी ग्राह्य है, क्योंकि उसके द्वारा रोग दूर होगा। शंकरजी ने प्रसन्न होकर कहा कि जितना मैंने कह दिया है, उतने जन्म तो इसे लेने ही पड़ेंगे, परन्तु तुम्हारी साधुता पर प्रसन्न होकर मैं तुम्हारे शिष्य पर कृपा कर रहा हूँ। इसका अभिप्राय यह है कि भुशुंडिजी कहीं यह न समझ लें कि मैं बड़ा साधक हूँ, इतना जप करता हूँ, इसलिए शंकरजी ने मुझ पर कृपा की है। भगवान शंकर भुसुंडिजी के गुरु से बोले –

तदपि तुम्हारि साधुता देखी। करिहउँ एहि पर कृपा बिसेषी॥ ७/१०९/४

– अरे, इस भुशुंडि की असाधुता देखकर मुझे दण्ड देना पड़ा, पर तुम्हारी साधुता देखकर लगता है कि इसकी असाधुता को भी साधुता में परिणत कर देना चाहिए। इसलिए मैं यह वरदान देता हूँ कि यह चाहे जितने बार जन्म ले –

कवनेउ जन्म मिटिहि नहिं ग्याना॥ ७/१०९/८

– इसका ज्ञान किसी भी जन्म में नहीं मिटेगा। उसके बाद भुशुंडिजी ने सचमुच ही हजारों जन्म लिए, परन्तु भगवान शंकर की कृपा उन पर नित्य बनी रही और अन्त में जब उन्हें पुनः भुशुंडि शर्मा के रूप में मनुष्य शरीर प्राप्त हुआ, तब इन हजारों जन्मों की यात्रा का सर्वोत्कृष्ट लाभ यह हुआ कि उनकी सारी समस्याओं का समाधान हो गया।

भुशुंडिजी महर्षि लोमश के पास गये। महर्षि लोमश तेजस्वी स्वभाव के हैं। निर्गुण-निराकारवादी और महान वेदान्ती हैं। भुशुंडिजी ने उनके समक्ष भक्तिमूलक जिज्ञासा की। लोमशजी ने कुछ देर तक तो उन्हें भक्तिमूलक उपदेश दिये, परन्तु बाद में उन्होंने अपने अद्वैतमूलक सिद्धान्त का उपदेश देना आरम्भ किया। उन्हें लगा कि यह शिष्य तो बड़ा योग्य है, क्यों न इसे उच्च ज्ञान का अधिकारी बना लिया जाय। यों कह लीजिए कि उनके वात्सल्य के कारण ही यह कठिनाई उत्पन्न हुई। उन्हें लगा कि यह तत्त्वज्ञान का उत्तम अधिकारी है, अतः क्यों न मैं इसे भी निर्गुण-निराकारवादी-वेदान्ती बना दूँ और वे तदनुसार ही उपदेश देने लगे। परन्तु भुशुंडिजी ने उनके सामने अपनी समस्या रख दी। उन्होंने यह नहीं कहा कि आप गलत कह रहे हैं, बल्कि उन्होंने बड़ी सुन्दर भाषा में कहा –

राम भगति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना॥ ७/१११/९

– महाराज, भगवान की भक्ति जल के समान और मेरा मन मछली की तरह है। तात्पर्य यह है कि दूध और जल में तुलना करते हुए दूध को कोई श्रेष्ठ बताये या संसार की किसी अन्य वस्तु को श्रेष्ठ बताये, तो यह बात नहीं है कि वह गलत कह रहा हो। हजारों वस्तुएँ ऐसी हैं, जो जल की अपेक्षा अत्यन्त उत्तम हैं, लेकिन भुशुंडिजी ने विनम्रतापूर्वक कहा कि अगर कोई मछली के सामने जल की तुलना में अन्य वस्तुओं की श्रेष्ठता कहे, तो भला बताइए क्या मछली जल को छोड़कर उसे अपना सकती है ?

उन्होंने कहा, "महाराज, यहाँ तो श्रेष्ठता-निकृष्टता का प्रश्न ही नहीं है, मछली की समस्या तो यह है कि वह जल से अलग होकर जीवित ही नहीं रह सकती। अगर उसे समझाया भी जाए, तो वह तो यही कहेगी कि मैं कोई जानबूझ कर या अनजाने ही जल से प्रेम थोड़े ही करती हूँ। मेरा तो निर्माण ही ऐसा हुआ है कि जल से अलग होकर मैं जीवित नहीं रह सकती।" परन्तु लोमशजी को क्रोध आ गया। यहाँ पर उल्टी बात है। गुरु में क्रोध रूपी दोष आ गया। लेकिन अब भुशुंडिजी में बहुत परिवर्तन आ चुका है। जब लोमशजी ने क्रुद्ध होकर कहा – मूर्ख, तू मेरे सर्वोत्तम उपदेशों को नहीं मानता और तर्क-वितर्क करता है। अपनी बातों पर तुझे बड़ा हठ है, अतः जा तू कौआ बन जा –

मूढ़ परम सिख देउँ न मानसि। उत्तर प्रतिउत्तर बहु आनसि॥
सत्य बचन बिस्वास न करही। बायस इव सबही ते डरही॥
सब स्वपच्छ तव हृदयँ बिसाला। सपदि होहि पच्छी चंडाला॥ ७/११२/१३-१५

हो सकता था कि इस पर उनके मन में लोमशजी के प्रति अश्रद्धा आ जाती, दोषदर्शन आ जाता, वे सोच सकते थे कि जो इतना क्रोधी है कि हमारी सही बात भी नहीं सुन रहा है, उल्टा हमें ही कौआ हो जाने का शाप दे रहा है, यह किस काम का गुरु है ? सम्भव है कि भुशुंडिजी वहाँ से किसी अन्य गुरु की खोज में चल पड़ते। गरुड़जी ने काकभुसुंडि के अन्तःकरण को टटोलने के लिए कहा भी कि उनके गुरु लोमशजी को क्रोध आ गया, यह तो सन्त का लक्षण नहीं है। सन्त तो कभी दुर्वचन नहीं बोलते, क्रोध नहीं करते, शाप नहीं देते। किन्तु भुशुंडिजी की वृत्ति में कैसा सुन्दर परिवर्तन आ गया है! पहले की तरह असूया-वृत्ति होती, तो लोमशजी में उन्हें गुण में भी दोष दिखाई देते और असूया-वृत्ति के स्थान पर केवल तटस्थ-वृत्ति होती, तो भी दोष में तो दोष देखते। परन्तु अब उनमें श्रद्धा-वृत्ति का उदय हो चुका है – सद्गुर बैद बचन विश्वासा। वैद्य के साथ रोगी का सम्बन्ध श्रद्धा और विश्वास का सम्बन्ध है। वह कोई बुद्धिमत्ता अथवा दोषदर्शन का सम्बन्ध नहीं है। भुशुंडिजी ने कहा, "महाराज, वे तो सच्चे सन्त थे।" – "तो फिर उन्होंने आपको शाप कैसे दे दिया?" तर्क बड़ा सुन्दर है। भुशुंडिजी में असूया से ठीक ठीक अनुसूया-वृत्ति आ चुकी है और इसी वृत्ति का उदय होने के कारण अन्त में वे रामकथा के वाचक बनते हैं।

□(क्रमशः)□

शंकराचार्य-चरित (३)

स्वामी प्रेमेशानन्द

(लगभग बारह शताब्दियों पूर्व जब बौद्धधर्म की अवनति होने लगी थी और भारतवर्ष विभिन्न प्रकार के अनाचारों से परिपूर्ण हो गया था, तभी श्रीमत् शंकराचार्य ने आविर्भूत होकर सनातन वैदिक धर्म में नव-प्राणों का संचार किया। इस नवजागरण के फलस्वरूप ही हिन्दूधर्म पुन: सबल होकर भावी आक्रमणों को झेलने में सक्षम हो सका। आज जो सनातन हिन्दूधर्म जीवित है तथा फल-फूल रहा है, इसका बहुत-कुछ श्रेय उन्हीं को ही जाता है। जो लोग समयाभाव या किसी अन्य कारण से श्री शंकराचार्य की विस्तृत जीवनी पढ़ने में अक्षम हैं, उनके लिए रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासी स्वामी प्रेमेशानन्द ने बँगला में एक संक्षिप्त जीवनी लिखी थी, जिसका धारावाहिक अनुवाद 'विवेक-ज्योति' के आगामी अंकों में क्रमश:प्रकाशित किया जायेगा। - सं.)

अध्याय चौथा

मण्डन-विजय

आचार्य शंकर कुमारिल के साथ विचार करने अपने शिष्यों को साथ लिये प्रयाग जा पहुँचे। वहाँ उन्हें पता चला कि कुमारिल भट्ट गुरुहत्या के पाप का प्रायश्चित करने हेतु तुषानल में प्रविष्ट होकर प्राण-विसर्जन का संकल्प कर चुके हैं। आचार्यदेव अविलम्ब उस स्थान पर जा पहुँचे और देखा कि वे तुष के एक ज्वलन्त स्तूप पर स्थिर भाव से बैठे हैं। थोड़ी देर बाद ही उनका शरीर दग्ध होने वाला था। भट्टजी के प्रभाकर आदि शिष्य यह भीषण दृश्य देखकर अश्रुपात कर रहे थे।

शंकर का परिचय पाकर कुमारिल भट्ट को बड़ा आनन्द हुआ। शंकर ने उनके साथ विचार करने की अभिलाषा व्यक्त की। परन्तु कुमारिल अपने प्रायश्चित का संकल्प तोड़ने को सहमत नहीं हुए। उन्होंने शंकर को बताया कि उनके शिष्य मण्डन मिश्र उनसे भी अधिक प्रतिभावान हैं और उन्हें परास्त कर पाने से ही कुमारिल को भी परास्त करना हो जाएगा। शंकर ने पूछा, "हम दोनों के शास्त्रार्थ के बीच मध्यस्थ होने योग्य व्यक्ति कहाँ मिलेगा?" कुमारिल ने कहा, "मण्डन की पत्नी उभयभारती साक्षात् सरस्वती के तुल्य है, उसे ही मध्यस्थ मानने से हो जाएगा।"

कुमारिल के निर्देशानुसार मण्डन के साथ विचार करने को आचार्यदेव माहिष्मती नगरी में जा पहुँचे। मण्डन के घर में वेदों पर इतनी चर्चा होती थी कि उनके दास-दासी तक इसी से सम्बन्धित विषयों पर बातें करते थे; यहाँ तक कि उनके घर के पालतू तोते भी वेद-वाक्यों की आवृत्ति करते थे। मण्डन के आवास पर पहुँचकर आचार्य ने देखा कि द्वार बन्द हैं। पूछने पर ज्ञात हुआ कि वे अपने पितरों का श्राद्ध करने में व्यस्त हैं और इस शुभकार्य के दौरान कुछ अमंगल सूचक न दिख जाए, इस भय से उन्होंने द्वार बन्द कर रखे हैं। संन्यासी वेद-विधि, शिखा-सूत्र त्यागने के बाद अपना श्राद्ध करके गृहत्याग करते हैं, इसलिए कर्मकाण्डी लोग संन्यासी को शव की भाँति अमंगलसूचक मानते हैं।

शंकर अपनी योगशक्ति से आकाश-मार्ग द्वारा मण्डन के ठीक सामने ही जा पहुँचे। द्वार बन्द होने के बावजूद, इस प्रकार सहसा असम्भावित रूप से एक संन्यासी को उपस्थित देखकर मण्डन बड़े नाराज हुए। तब उन दोनों के बीच जो वार्तालाप हुआ, वह बड़ा ही रोचक है।

मण्डन – कहाँ से, मुण्डी? (हे मुण्डितमस्तक, संन्यासी, कहाँ से आये हो?)

शंकर – गले से। (मैं गले से सिर तक मुड़ाकर मुण्डित हुआ हूँ।)

मण्डन – शिखा-सूत्र का भार सह नहीं सके, परन्तु गधे के समान कन्था ढो रहे हो।

शंकर – रमणी-पोषण के भारवाही गधों का भार हल्का करने के लिए ही मैं कन्था का वहन कर रहा हूँ। वेद का आदेश है – 'वैराग्य होते ही संन्यास ग्रहण करना', 'शिखा-सूत्र का त्याग करना', 'अन्य आश्रम को त्यागकर संन्यास लेकर आत्मतत्त्व का श्रवण करना।'

मण्डन – पत्नी-रक्षण में असमर्थ होकर तुमने गृहत्याग किया था। अब शिष्यों और पुस्तकों का भार ढोते हुए खूब ब्रह्मनिष्ठा दिखा रहे हो!

शंकर – आलस्यवश गुरु की सेवा त्यागकर नारीसेवा का अवलम्बन करने से तुम्हारी कर्मनिष्ठा का अच्छा प्रमाण मिल रहा है।

मण्डन – धिक् कृतघ्न! मूर्ख, नारी के गर्भ में निवास करके, नारी के यत्न से लालित-पालित होकर बारम्बार तुम नारी-निन्दा कर रहे हो?

शंकर – नारीगर्भ में वास और उसका स्तनपान करके अब तुम नारी के साथ पशुवत् आचरण कर रहे हो। तुम कृतघ्न और मूर्ख हो या मैं?

मण्डन – मूर्ख, द्विजाति होकर तुमने अग्नि-उपासना का त्याग किया है। तुम इन्द्रहत्याकारी महापापी हो।

शंकर – तुम आत्मज्ञान त्यागकर आयुक्षय करनेवाले आत्महत्याकारी महापापी हो।

मण्डन – तुमने चोर के समान मेरे घर में प्रवेश किया है। तुम चोर हो।

शंकर – तुम गृहस्थ हो, तुम्हारे अन्न में संन्यासी का हिस्सा है। संन्यासी का भाग चुराने के लिए तुमने द्वार बन्द कर रखे थे, तुम चोर हो।

मण्डन – कहाँ तुम्हारे जैसे मूर्ख संन्यासी और कहाँ ब्रह्मज्ञान! कहाँ संन्यास, और कहाँ कलिकाल! दूसरों के अन्न से जिह्वातृप्ति के लिए ही तुम यति के वेश में घूम रहे हो।

शंकर – कहाँ स्वर्ग, और कहाँ तुम्हारे समान विषयासक्त लोग! कहाँ वैदिक यागयज्ञ और कहाँ कलिकाल! इन्द्रियसुख की लालसा में गृहस्थ सजकर ढोंग कर रहे हो।

मण्डन ने दो महाविद्वान ब्राह्मणों को पौरोहित्य के लिए निमंत्रित करके बुलाया था। वे भी बड़े ध्यानपूर्वक यह तर्क-वितर्क सुन रहे थे। उन्होंने देखा कि मण्डन क्रुद्ध होकर बोल रहे हैं, परन्तु संन्यासी प्रशान्त चित्त से सरस उत्तर देकर उन्हें निरस्त किये जा रहे हैं और उनके वाक्य युक्तिपूर्ण तथा वेदसम्मत हैं। यह सोचकर कि ये साधारण मानव नहीं हैं, वे लोग मण्डन को क्रोध त्यागने का उपदेश देते हुए कहने लगे, "ये वेदज्ञ और जितेन्द्रिय यति हैं। कहाँ तो आज श्राद्ध के दिन तुम इन्हें सादर आमंत्रित करते, परन्तु उल्टे तुम इनके

प्रति कठोर वाणी का प्रयोग कर रहे हो । आज विनम्रतापूर्वक इन्हें निमंत्रित करना ही तुम्हारा कर्तव्य है ।'' पुरोहितों की बातें सुनकर मण्डन शान्त हुए और शंकर से अनुरोध करने लगे कि वे उस दिन यथारीति उनके घर भिक्षा ग्रहण करें । शंकर ने कहा, ''मैं आपके पास तर्क की भिक्षा के लिए आया हूँ । अन्य कोई भिक्षा मुझे नहीं चाहिए । मैं आपसे इस शर्त के साथ शास्त्रचर्चा करना चाहता हूँ कि 'हममें से जो पराजित हो जायेगा, उसे विजेता का शिष्यत्व तथा आश्रम स्वीकार करना होगा' । मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि परास्त होने पर मैं संन्यास-आश्रम त्याग दूँगा और पुन: शिखा-सूत्र ग्रहणकर आपका शिष्य बन जाऊँगा । आप पराजित हो जाने पर शिष्यत्व स्वीकार कर संन्यासी बनेंगे – इसी शर्त पर आप मुझे तर्क की भिक्षा दीजिए । अन्यथा मेरे सामने हार स्वीकार कर मेरा मत ग्रहण कीजिए ।''

तरुण संन्यासी के मुख से ऐसी दम्भपूर्ण उक्तियाँ सुनकर मण्डन पहले तो थोड़े विस्मित रह गये । वे भारतजयी कुमारिल के प्रधान शिष्य थे; उनके सम्मुख वेदविद्या के बारे में इस प्रकार दम्भ दिखा सकनेवाला कोई विद्यमान होगा, इसकी उन्हें कल्पना तक न थी । और तिस पर भी एक बालक तर्कयुद्ध के लिए उन्हें चुनौती दे! परन्तु उस बालक के मुखमण्डल पर एक ऐसी असाधारण प्रतिभा दीप्त हो रही थी कि उसकी बातों को निरर्थक कहकर उड़ाया भी नहीं जा सकता था । और दोनों महाविद्वान पुरोहितों ने भी इसे वेदज्ञ के रूप में स्वीकार कर लिया है । मन-ही-मन यही सब सोचकर मण्डन ने बड़े दम्भ के साथ शंकर के प्रस्ताव के अनुसार तर्क करने की स्वीकृति दे दी । उन्होंने पुरोहितों से मध्यस्थता करने का अनुरोध किया, परन्तु वे लोग इस प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए बोले कि मण्डन की पत्नी उभयभारती ही इस कार्य के लिए उपयुक्त है । कुमारिल ने भी पहले ही शंकर को उभयभारती के बारे में बता दिया था । अत: दोनों पक्षों ने उभयभारती को ही मध्यस्थ स्वीकार कर लिया । तय हुआ कि अगले दिन प्रात:काल तर्क आरम्भ होगा ।

उभयभारती बड़े धर्मसंकट में पड़ीं । मण्डन के पक्ष में मत देने पर लोग स्वाभाविक रूप से ही कहेंगे कि उसने अपने पति के साथ पक्षपात किया है; फिर पति की पराजय भी वे किस मुँह से घोषित करेंगी? इसी प्रकार सोचते सोचते उन्होंने एक उपाय ढूँढ़ निकाला – वे प्रतिदिन दोनों के गले में फूलों की एक एक माला पहना देंगी; जो भी पक्ष की दुर्बलता के कारण परेशान या उद्विग्न होगा, उसके शरीर का ताप बढ़ेगा, जिससे उसके गले की माला मुरझाने लगेगी और इस प्रकार अपने आप ही जय-पराजय का निर्णय हो जाएगा ।

अगले दिन प्रात:काल चर्चा आरम्भ हुई । उभयभारती ने दोनों के गले में मालाएँ पहना दीं । शंकर का मत था – ''एक ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं; माया के भीतर से उसी को 'नाना' रूपों में देखते हैं; ब्रह्म के बारे में सुनते सुनते और चिन्तन करते करते जब भ्रम दूर हो जाएगा, तब बोध होगा कि एकमात्र ब्रह्म का ही अस्तित्व है और कुछ भी नहीं है – इसी ज्ञान से जीव की मुक्ति होती है और यही सम्पूर्ण वेद का तात्पर्य है ।'' मण्डन के मतानुसार समग्र वेद का तात्पर्य था – ''वैदिक मन्त्रों के द्वारा यागयज्ञ करके स्वर्गप्राप्ति को ही जीव की मुक्ति कहते हैं; और वेदविधि के अनुसार कर्म करना ही मानव-जीवन का उद्देश्य है ।''

अब युक्ति तथा वेदवाक्यों के माध्यम से एक-दूसरे के मत का खण्डन करके अपने मत की स्थापना करनी होगी। दोनों ने अपनी अद्भुत प्रतिभा के बल पर अखण्डनीय युक्तिजाल के द्वारा प्रतिपक्ष के मत को आवृत्त कर दिया; फिर दोनों ही चरम युक्तिपूर्ण हेतु दिखाते हुए एक-दूसरे के मत को छिन्न करते हुए अपने अपने मत का उत्कर्ष प्रदर्शित करने लगे। चारों ओर से सैकड़ों पण्डित आ जुटे और इस तर्कयुद्ध को सुन-सुनकर मुग्ध हो गये। इसी प्रकार सोलह दिन बीत गये। मण्डन ने देखा कि उनके पक्ष की युक्तियाँ क्रमशः क्षीण होती जा रही हैं। सत्रहवें दिन उनके पास कहने को कुछ भी नहीं बचा। लज्जा और क्षोभ से उनके चेहरे का रंग उड़ गया, शरीर तप्त हो गया और उनके गले की माला मुरझा गयी। बाह्य लक्षण देखकर ही जय-पराजय के विषय में अब कोई सन्देह नहीं रहा। पण्डितगण इस सोलह वर्ष के बालक की मेधाशक्ति पर चमत्कृत रह गये और मण्डन पर इसका परिणाम देखने को उत्सुक हुए।

अब अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार मण्डन को संन्यास लेना होगा। यहाँ पर उभयभारती ने एक आपत्ति रखी। उन्होंने कहा, "नारी पुरुष की अर्धांगिनी होती है। आपने मेरे पति को परास्त किया है, परन्तु मुझे नहीं कर सके हैं। अब मैं पूर्वपक्ष का अवलम्बन करती हूँ, आपको मेरे साथ भी विचार करना होगा।" यह कहकर उन्होंने स्त्री-स्वभाव के बारे में कुछ प्रश्न किये।

आचार्य ने बचपन से ही संन्यास ग्रहण कर लिया था। नारी-स्वभाव के बारे में उन्हें बिल्कुल भी ज्ञान नहीं था। संन्यासी के लिए तो नारी-स्वभाव के विषय में पढ़ना या चर्चा तक करना पूर्णतः निषिद्ध है। अतः इस विषय के प्रश्नों का उत्तर दे पाना उनके लिए असम्भव था। परन्तु जिस महान कार्य में वे लगे हुए थे, उसमें मण्डन मिश्र के समान व्यक्ति की सहायता की उन्हें विशेष आवश्यकता थी और इस कार्य के प्रारम्भ में ही विफलता को स्वीकार कर लेना उचित नहीं था। अतः किसी-न-किसी उपाय से उभयभारती को हराना आवश्यक समझकर शंकर ने उनसे एक महीने का समय माँगा।

परकाया-प्रवेश

आचार्य ने निश्चित किया कि वे किसी गृहस्थ के शरीर में प्रविष्ट होकर उभयभारती के प्रश्न का उत्तर लिख डालेंगे। इस उद्देश्य को लेकर आकाश-पथ से ऊपर उड़कर उपयुक्त शरीर की खोज करते हुए उन्होंने देखा कि अमरुक नामक राजा शिकार करने जाकर सहसा मृत्यु को प्राप्त हो गये हैं और उनके सम्बन्धी मृतदेह के चारों ओर बैठे रुदन कर रहे हैं। अपने देवकार्य को सम्पन्न करने के लिए इन राजा के देह में प्रवेश करना आवश्यक समझकर शंकर अविलम्ब धरती पर उतर आये। वे अपने शिष्यों को लेकर एक अत्यन्त निर्जन गिरि-गुफा में गये और उन्हें समझाया कि उनके शरीर त्यागकर राजा की काया में प्रविष्ट होने के बाद उनके शरीर की किस प्रकार सावधानी तथा यत्नपूर्वक रक्षा करनी होगी। इसके उपरान्त वे समाधिमग्न हो गये।

शिष्यगण अत्यन्त सावधानी के साथ अपने गुरुदेव की देहरक्षा में लग गये। राजा के शरीर में शंकर के प्रविष्ट हो जाने पर धीरे धीरे उसमें जीवन के लक्षण प्रकट होने लगे।

उनके सम्बन्धी आशावान होकर उनकी शुश्रूषा करने लगे । देखते-ही-देखते नींद से उठे हुए व्यक्ति के समान राजा ने आँखें खोल दीं । राजा के जीवित हो उठने पर उनके सम्बन्धी, मंत्री, सेनापति आदि अतीव उल्लास के साथ उन्हें राजधानी लौटा लाये ।

सर्वकामनाहीन, परमत्यागी शंकराचार्य अब राजा हो गये । कुछ दिनों के भीतर ही उनका विचारशक्ति, पाण्डित्य तथा गम्भीरता का परिचय पाकर मंत्रीगण बड़े विस्मित हुए । राजा के सम्बन्धी उनके पहले के स्वभाव तथा व्यवहार में आये हुए भारी परिवर्तन को देखकर बड़े चिन्तित हो उठे । उन्हें समझते देर न लगी कि किसी योगी ने ही किसी विशेष हेतु से राजा के शरीर में प्रवेश किया है ।

मंत्रियों ने आपस में सलाह करके निश्चित किया कि यदि योगी ने अपनी पूर्वदेह कहीं सुरक्षित रखी हो, तो उसे ढूँढ़कर नष्ट कर देना होगा । तब योगी काफी काल तक राजा की देह में रहने को बाध्य हो जायेंगे और इससे राज्य का परम मंगल होगा । अतः उन लोगों ने अत्यन्त गोपनीयतापूर्वक राजा से छिपाकर इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए बहुत से लोगों को नियुक्त कर दिया ।

एक महीना पूरा होने को आ गया और तब भी गुरुदेव को अपने शरीर में लौटते न देखकर शिष्यगण बड़े चिन्तित हुए । इसके पहले कभी कोई योगी एक राजा के शरीर में प्रविष्ट होकर भोगोन्मत्त हो गये थे । तब एक शिष्य ने बड़ा कष्ट उठाकर उनका बोध जाग्रत किया था । फिर कहीं उसी घटना की पुनरावृत्ति न हो जाय – यही सोचकर पद्मपाद ने अपने कुछ सुकण्ठ गुरुभाइयों के साथ संगीतज्ञों का वेष बनाया और राजा अमरुक की सभा में पहुँच गये । वहाँ वे लोग संस्कृत भाषा में वैराग्यपूर्ण भजन गाकर राजा की पूर्वस्मृति को जगाने का प्रयास करने लगे । शंकर अपने शिष्यों को पहचान गये और सद्यः समाप्त स्त्री-चरित्र सम्बन्धी ग्रन्थ को पद्मपाद के हाथ में देते हुए बोले, "मैं शीघ्र ही आ रहा हूँ ।"

राजा के भृत्यों को खोजते खोजते गुफा में सुरक्षित रखे शंकर के शरीर का पता चला । उन लोगों ने शिष्यों से शरीर छीन लिया और उसे जला डालने के लिए चिता सजाकर उसमें आग भी लगा दी । ठीक उसी क्षण शंकर ने भी राजा की देह छोड़कर अपने शरीर में प्रवेश किया । योगी को सहसा हिलते-डुलते देखकर भृत्यगण भाग खड़े हुए । शंकर चिता से उठकर अपने शिष्यों से आ मिले ।

अपने शिष्यों के साथ माहिष्मती नगरी लौटकर आचार्यदेव ने देखा कि मण्डन को वैराग्य हो गया है और वे ज्ञान के लिए व्याकुल हैं । उभयभारती आचार्यदेव के ग्रन्थ में अपने प्रश्नों के समाधान पाकर सन्तुष्ट हुईं और पति का संन्यास निश्चित जानकर समाधि के द्वारा उन्होंने देहत्याग कर दिया । वैदिक प्रणाली के अनुसार मण्डन अपना श्राद्ध, शिखासूत्र का त्याग, सिर का मुण्डन, गैरिक-वस्त्र धारण तथा पितृदत्त नाम का त्याग करके सुरेश्वर के नाम से विख्यात हुए । □(क्रमशः)□

दिव्य-शक्ति का बोध

स्वामी सत्यरूपानन्द

जिस लेखनी से यह चिन्तन लिखा गया है, जिस प्रेस से इसका मुद्रण हो रहा है, उन सभी के पीछे किसी एक शक्ति की ही तो क्रियाशीलता है। शक्ति का ही तो खेल है। बिना शक्ति के इस ब्रह्माण्ड में एक धूलिकण भी नहीं हिल सकता, किसी वृक्ष का एक सूखा पत्ता भी नहीं हिल सकता।

इस विश्व-ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी है, जिसका भी हमें अनुभव हो रहा है, ज्ञान हो रहा है वह सब शक्ति के कारण ही तो हो रहा है। इस तथ्य को प्रगट करने के लिए क्या किसी प्रमाण की आवश्यकता है?

शक्ति की इन विभिन्न क्रीड़ाओं की अभिव्यक्तियों का द्रष्टा, अनुभव करनेवाला मनुष्य स्वय भी तो शक्ति का ही एक पुंज है, उसकी अभिव्यक्ति है। मनुष्य स्वयं शक्तिधर है।

शक्ति ही तो जीवन है। प्राणी की प्राणशक्ति समाप्त होते ही तो वह निष्प्राण हो जाता है। शक्ति का अभाव ही मृत्यु है। सक्रियता, गतिशीलता आती है शक्ति से। मनुष्य स्वयं शक्तिधर है। इसीलिए उसे शक्ति का अनुभव होता है। मनुष्य में यदि शक्ति न हो तो किसी भी शक्ति का अनुभव कर नहीं सकता। मनुष्य ने अपने भीतर ही बाह्य प्रकृति की सभी शक्तियों के रहस्यों को समझा है। समझकर उनका नियंत्रण और उपयोग किया है। शक्ति के रहस्यपूर्ण नियमों को समझाने की शक्ति मनुष्य के भीतर ही है।

शक्ति के नियमों को एक बार ठीक ठीक समझ लेने पर फिर शक्ति का नियमन और नियंत्रण अनायास ही किया जा सकता है, क्योंकि केवल मनुष्य में ही शक्ति के रहस्यों और नियमों को समझने की सामर्थ्य है। अतः मनुष्य शक्ति का नियामक और नियंत्रक हो सकता है। इसलिए मनुष्य ही शक्तिधर है।

मनुष्य स्वयं महाशक्ति का आगार है, अधिष्ठान है। वह स्वयं शक्तिस्वरूप है। शक्ति का उत्स स्वयं उसके अन्तःकरण में विद्यमान है। अस्तु। संसार की किसी भी शक्ति का समुचित नियमन और नियंत्रण करने के लिए मनुष्य को सर्वप्रथम अपने भीतर की शक्ति को जानना आवश्यक है। अपने भीतर की शक्ति के रहस्यों और नियमों को जान लेने पर बाहर की शक्तियों के रहस्यों तथा नियमों को जानना और समझना सहज हो जाता है।

अपने भीतर की शक्तियों को जाननेवाला मनुष्य ही वास्तव में शक्तिधर होता है। उसकी शक्ति के आगे प्रकृति की सभी शक्तियाँ नतमस्तक हो खड़ी रहती हैं। ऐसा मनुष्य ही वास्तव में शक्ति का समुचित नियंत्रण और नियोजन कर सकता है। ऐसे ही व्यक्ति के हाथों में आकर विनाशकारी शक्तियाँ भी सृजनशील और कल्याणकारी हो उठती हैं। आज जबकि समस्त संसार शक्ति की विनाशकारी विभीषिका से पीड़ित और त्रस्त होकर विनाश के कगार पर खड़ा है तब मनुष्य के अन्तःकरण में विराजमान दिव्यशक्ति का ज्ञान उसका प्रत्यक्ष अनुभव ही उसे महाविनाश से बचा सकता है। नान्यः पन्था विद्यते। □

माँ के सान्निध्य में (४६)

सरयूबाला देवी

(मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर कथा' के प्रथम भाग से इस अंश का अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष हैं। – सं.)

२८ सितम्बर १९१८, शनिवार

प्रात:काल गयी थी। माँ फल काट रही थीं। देखते ही बोलीं, "आयी हो बेटी, आ, बैठ। आज (दुर्गापूजा का) बोधन है (मुझे इसका स्मरण न था)। ठाकुर के ये फूल चुनकर सजा दे और फल की थाली एक किनारे रख दे।" मैंने उनके आदेश का पालन किया। फल आदि काटना हो जाने के बाद माँ पास के कमरे में गयीं। स्नान करेंगी। तेल का पात्र तथा कंघी लेकर वे मेरे सामने आ बैठीं। उनके सिर पर हाथ लगाने में मैं आगा-पीछा कर रही थी, यह देखकर उन्होंने एक बालिका के समान कहा, "मेरे सिर में कंघी कर दे न।" आदेश पाकर मैंने कंघी कर दी। राधू स्नान करने के बाद आकर बोली, "मैं दही के साथ चिउड़े खाऊँगी।"

माँ ने वहीं एक कटोरे में चिउड़े के साथ दही मिलाकर थोड़ा-सा अपने मुख में देने के बाद उसे राधू को दे दिया। मैं कंघी करना छोड़कर सिर में तेल लगा रही थी। माँ ने कहा, "देख, जयरामबाटी में कुछ लड़के दीक्षा लेने गये थे, सो मैंने दिया नहीं। इस पर वे विनती करते हुए बोले, 'तो फिर पाँवों की थोड़ी धूल ही दे दीजिए, हम लोग ताबीज बनाकर पहनेंगे' – ऐसा था उनका भक्ति-विश्वास!"

सिर में कंघी करते करते माँ के बहुत-से बाल निकल आये थे। माँ ने कहा, "यह लो जी, रख लो।" वस्तुत: मैं ही धन्य हो गयी, मेरी उन्हें ले जाने की बड़ी इच्छा थी।

इसके बाद मैं माँ के साथ गंगा में स्नान करने गयी। स्नान से लौटने के बाद पूजा समाप्त होते ही माँ प्रसाद वितरण करने लगीं। इसी में काफी समय चला गया।

श्यामदास कविराज राधू को देखने आये। माँ ने राधू को बुला देने के लिए कहा। मैं बुलाने गयी। थोड़ी देर बाद रासबिहारी महाराज आकर कविराज महाशय को बुला लाये। उनके जाँच कर लेने के बाद माँ ने राधू से उन्हें प्रणाम करने को कहा। राधू ने झुककर प्रणाम किया। उनके चले जाने पर किसी किसी ने पूछा, "ये क्या ब्राह्मण हैं?"

माँ – नहीं, वैद्य हैं।

मैं – तो फिर आपने प्रणाम करने को क्यों कहा?

माँ – करेगी क्यों नहीं? कितने बड़े विद्वान हैं! ये लोग ब्राह्मण-तुल्य ही हैं, इन्हें प्रणाम नहीं करेगी तो किसे करेगी? क्या कहती हो बेटी!

ठाकुर का भोग हो गया। माँ का भोजन हो जाने पर हम सभी खाने बैठीं। माँ ने मुझसे कहा, "उड़द की दाल अच्छी हुई है, खा।" नलिनी दीदी ने कहा, "तुम हर रोज आकर

चली जाती हो, भोजन नहीं करती । आज अच्छी तरह खाओ ।''

माँ अब विश्राम करेंगी । शोरगुल न हो, इसलिए हम लोग बगल के कमरे में चली गयी। थोड़ी देर बाद हम बाहर आयीं । माँ ने कहा, ''देखती हो न, सब दरवाजे बन्द कर रखे हैं । गरमी से प्राण निकल रहे हैं । जरा खोल दे तो ।'' मैंने खोल दिये । थोड़ी देर बाद ही माँ उठकर कपड़े धोने गयीं । ठाकुर को संध्या का भोग दिया गया । माँ आकर उत्तरी बरामदे में आसन बिछाकर बैठीं । थोड़ी देर बाद बहू, माकू आदि थियेटर देखने चली गयीं। माँ के सामने चुपचाप बैठे बैठे मैंने देखा कि उनके सिर पर सामने की ओर के बहुत से केश पक गये हैं । मन में आया कि सबेरे यदि मैं उन्हें निकाल डालती! माँ ने भी कहा, ''आ तो बेटी, मेरे पके हुए बाल निकाल दे ।'' बहुत-से थे, काफी समय तक निकालती रही ।

अब भक्तगण प्रणाम करने आयेंगे, मेरी भी गाड़ी आ गयी थी, कालीघाट के मकान जाना होगा । मन में यह सोचकर कष्ट होने लगा कि अब से प्रतिदिन जब-तब माँ के पास आने की सुविधा नहीं होगी । प्रणाम करके विदा लेते समय माँ ने कहा, ''महाष्टमी के दिन यदि हो सके तो आना ।''

३० सितम्बर १९१८, रविवार

आज महाष्टमी है । माँ ने आने को कहा था । सुबह से ही हम दोनों बहनें आ पहुँची हैं । आने के बाद हमने देखा कि कुछ भक्त-महिलाएँ फूल लेकर आयी हैं । माँ के श्रीचरणों की पूजा करने के उपरान्त वे गंगास्नान करने चली गयीं । माँ ने मुझसे पूछा, ''तुम रहोगी न? आज महाष्टमी है ।'' मैंने कहा, ''रहूँगी ।'' थोड़ी देर बाद पूजनीय शरत् महाराज भी माँ के चरणों में प्रणाम करने आये । हम पास के कमरे में चली गयीं । माँ अपने दोनों चरण फर्श पर लटकाये हुए तख्त पर बैठी हुई हैं । और भी अनेक भक्तों ने प्रणाम किया ।

बाद में मैं माकू आदि के साथ गंगास्नान करने को गयी ।

माँ ने आज घर में ही स्नान किया । क्योंकि माँ एक एक दिन के अन्तर से स्नान करने जाया करती थीं । गठिया के कारण प्रतिदिन नहीं जाती थीं । आकर देखा तो अनेक महिलाएँ माँ की पूजा कर रही थीं । उनमें से कई वस्त्र लायी थीं । कालीघाट में जिस प्रकार माँ-काली के शरीर से वस्त्र लपेट दिये जाते हैं, पूजा के अन्त में उसी प्रकार सभी माँ के शरीर पर कपड़े लपेटती जा रही हैं । माँ भी एक एक कर उन्हें देखती हुई उतारकर रखती जा रही हैं । कभी किसी से कह उठती हैं, ''यह वस्त्र अच्छा है !'' एक ब्रह्मचारी ने आकर सूचना दी – अब पुरुष भक्तगण माँ को प्रणाम करने आयेंगे । क्या ही सुन्दर दृश्य था! सबके हाथों में प्रस्फुटित कमल के पुष्प तथा बिल्वपत्र हैं और सभी एक एक कर उन्हें पूजा तथा प्रणाम करने के बाद किनारे खड़े होते जा रहे हैं । इसी प्रकार काफी समय बीत गया । डॉक्टर कांजीलाल अपनी पहली पत्नी के साथ आये हुए हैं । गोलाप-माँ कह रही हैं, ''जिसकी चीज है उसी को मिली ।'' माँ ने भी कहा, ''हाँ, जिसका था, उसी का हुआ । बीच में दो-एक दिन थोड़ी गड़बड़ी होने के बाद एक अन्य व्यक्ति (परलोकगत द्वितीय पत्नी) का थोड़ा-सा भोग हो गया । यह जन्म-जन्मान्तर का योग है ।'' बलराम बाबू के घर से सभी आकर पूजा कर गये ।

अन्त में मैं गयी। पूजा करने के बाद शरीर पर वस्त्र देते ही माँ ने कहा, "इसे पहनूँगी। आज तो एक नया वस्त्र पहनना ही होगा।" यही कहकर उन्होंने वह वस्त्र धारण कर लिया। मेरे नेत्रों में अश्रु छलछला आये। साधारण-सा ही तो कपड़ा था! बाकी लोगों ने कितने अच्छे अच्छे वस्त्र दिये थे। मैं माँ की एक निर्धन बच्ची हूँ। माँ से इतना स्नेह पाकर मुझे लज्जा का भी बोध होने लगा। माँ ने कहा, "इसकी किनारी बड़ी अच्छी है।"

एक गैरिक-वसन-धारिणी महिला ने माँ की पूजा करने के बाद उनके चरणों में दो रुपये रख दिये। इस पर माँ ने कहा, "यह क्या ! यह क्या करती हो! गेरुआ पहनी हो, हाथ में रुद्राक्ष की माला है।"

माँ ने महिला से पूछा, "दीक्षित कहाँ से हुई हो।"

महिला ने कहा, "दीक्षा नहीं हुई है।"

माँ बोलीं, "दीक्षा लिए बिना, किसी वस्तु की उपलब्धि किए बिना तुमने यह वेश धारण किया है, यह तो ठीक नहीं हुआ। वेश बहुत बड़ी चीज है, मुझे ही हाथ जोड़कर प्रणाम करने की प्रवृत्ति हो रही थी; ऐसा नहीं करना चाहिए, पहले वस्तुलाभ हो जाय। सभी लोग जो पाँवों पर सिर रखेंगे, उसे ग्रहण करने की शक्ति होनी चाहिए।"

महिला ने कहा, "आपसे ही दीक्षा लेने की कामना है।"

माँ बोलीं, "ऐसा कैसे हो सकता है?" तो भी वे महिला अनुनय-विनय करने लगीं। गोलाप-माँ ने भी उनका थोड़ा समर्थन किया। देखा कि माँ काफी सदय हो गयी हैं, बोलीं, "बाद में देखा जायेगा।"

गौरी-माँ अपने आश्रम की बालिकाओं को ले आयी हैं। सबने पूजा करके प्रसाद ग्रहण करने के बाद विदा ली।

ठाकुर की पूजा समाप्त करके विलास महाराज ने आकर चुपके चुपके माँ से कहा, "माँ, आज पता नहीं ठाकुर ने भोग ग्रहण किया या नहीं। एक प्रसादी पत्तल आकर नैवेद्य के ऊपर पड़ गया था। ऐसा क्यों हुआ? बहुत से लोग घरों से काफी कुछ लाये हैं, न जाने क्या हुआ।"

माँ ने कहा, "गंगाजल छिड़क दिया है, न?"

"सो तो छिड़क दिया है" – कहकर वे चले गये। सुनकर मन में बड़ी उधेड़बुन चलने लगी। महाष्टमी का दिन था। माँ की चरण-पूजा करनेवालों का लगातार ताँता लगा रहा। स्तूपाकार फूल-बिल्वपत्र बरामदे में रखकर आते ही, फिर उनके चरणों में उतने ही पुष्प-पत्र एकत्र हो जाते थे।

क्रमश: मध्याह्न भोग का समय हो गया। उसी समय किसी दूर के अंचल से तीन पुरुष तथा तीन स्त्रियाँ माँ का दर्शन करने आयीं। वे लोग बड़े ही निर्धन थे। उनके पास एक ही वस्त्र था और भिक्षा के द्वारा मार्ग का व्यय जुटाकर वे लोग आये थे। उनमें से एक पुरुष-भक्त माँ के साथ एकान्त में बहुत-सी बातें करते रहे। उनकी बात समाप्त ही नहीं होती थी। ठाकुर के मध्याह्न भोग का समय हो गया देख (क्योंकि माँ ही भोग देनेवाली थीं) माँ के बच्चे नाराज होकर उठने लगे। एक ने स्पष्ट कह दिया, "और जो कुछ बोलना है,

नीचे जाकर महाराज लोगों में से किसी से बोलिए न ।'' परन्तु माँ ने थोड़ी दृढ़ता से कहा, ''समय हो गया तो क्या हुआ, इनकी बातें तो सुननी होंगी ।'' यह कहकर वे बड़े धैर्यपूर्वक उनकी बातें सुनती रहीं । बाद में धीमे स्वर में उन्होंने उन्हें कोई आदेश दिया । उनकी पत्नी को भी बुला लिया । अनुमान था कि स्वप्न में उन्हें कुछ मिला है । बाद में ज्ञात हुआ कि उन्हें स्वप्न में मंत्र मिला था । लगभग घण्टे-भर बाद उन लोगों ने प्रसाद ग्रहण किया और विदा ली । माँ ने आकर कहा, ''अहा! बड़े गरीब हैं । कितने कष्ट उठाकर आये हैं!''

बाद में भोग हो जाने पर हम सबने प्रसाद पाया । अब माँ थोड़ा विश्राम करेंगी । हम पास के कमरे में चली गयीं ।

चार बजे हैं । माँ उठीं । ठाकुर का सांध्य भोग हो चुका है । रासबिहारी महाराज आकर बोले, ''एक मेम तुम्हारा दर्शन करने आयी हैं । काफी देर से नीचे प्रतीक्षा कर रही हैं ।'' माँ ने उन्हें लाने को कहा । मेम के आकर प्रणाम करते ही माँ ने ''आओ'' कहते हुए उनका हाथ पकड़ लिया, मानो हाथ मिला रही हों । माँ जो कहा करती हैं, 'जहाँ जैसा वहाँ वैसा, जब जैसा तब तैसा' – यह उसी का प्रत्यक्ष निदर्शन देखने को मिला । इसके बाद उन्होंने उस महिला की ठोढ़ी को स्पर्श करके अपने हाथ को चूमा । मेम ने बताया कि वे बँगला जानती हैं और वे बोलीं, ''मेरे आने से कहीं आपको कोई असुविधा तो नहीं हुई? मैं काफी समय से आयी हुई हूँ । मैं बड़ी दुखी हूँ । मेरी एक पुत्री है, बहुत अच्छी लड़की है, वह बड़ी बीमार है । इसीलिए माँ आपसे दया की भिक्षा माँगने आयी हूँ । आप कृपा करें, ताकि वह ठीक हो जाय । बड़ी अच्छी लड़की है, माँ! अच्छी इसलिए कहती हूँ कि हम लोगों में आजकल शायद ही कोई अच्छी स्त्री मिलती है । मैं सच कहती हूँ, हम लोगों में कई बहुत दुष्ट हैं, बदमाश हैं । परन्तु यह लड़की वैसी नहीं है । आप इस पर कृपा कीजिए ।''

माँ ने कहा, ''मैं तुम्हारी पुत्री के लिए प्रार्थना करूँगी, वह ठीक हो जाएगी ।''

यह बात सुनकर मेम बड़ी आश्वस्त हुईं और बोलीं, ''तो फिर अब चिन्ता की कोई बात नहीं । आप जब कह रही है कि 'ठीक हो जाएगी', तो ठीक होगी ही, अवश्य होगी, अवश्य होगी, अवश्य होगी ।'' उनकी बात से बड़ा बल तथा विश्वास व्यक्त हो रहा था। माँ ने करुणापूर्ण हृदय से गोलाप-माँ को कहा, ''ठाकुर का एक फूल ला दो, एक कमल ले आना ।'' बिल्वपत्र के साथ एक कमल लाकर गोलाप-माँ ने माँ के हाथ में दे दिया । माँ उसे हाथ में लेकर थोड़ी देर आँखें मूँदे रहीं; उसके बाद ठाकुर की ओर एकटक देखती हुई फूल को मेम के हाथ में देती हुई बोलीं, ''अपनी बेटी के सिर पर फिरा देना ।''

मेम ने हाथ जोड़कर फूल लिया और प्रणाम करके कहा, ''उसके बाद क्या करूँगी?''

गोलाप-माँ बोलीं, ''और क्या करोगी? सूख जाने के बाद गंगा में डाल देना ।''

मेम ने कहा, ''नहीं, नहीं, यह भगवान की चीज भला कैसे फेंक दूँगी! नये कपड़े की एक थैली बनवाकर उसी में रख दूँगी और वही थैली प्रतिदिन लड़की के मस्तक तथा शरीर पर फेर दिया करूँगी ।''

माँ बोलीं, ''हाँ, ऐसा ही करना ।''

मेम – ईश्वर सत्य हैं, वे हैं । आपसे एक बात कहना चाहती हूँ । कुछ दिनों पूर्व मेरे

छोटे बच्चे को खूब बुखार हो गया। एक दिन मैं खूब व्याकुल हुई और बैठकर कहने लगी, 'हे ईश्वर, तुम्हारे अस्तित्व का तो मैं अनुभव करती हूँ; परन्तु तुम मुझे प्रत्यक्ष रूप से कुछ दो।' यह कहकर रोते रोते मैंने एक रूमाल बिछा दिया। काफी देर बाद मैंने देखा कि रूमाल की तहों के बीच काठ की तीन तीलियाँ थीं। मैं विस्मित रह गयी और उन तीलियों को ले जाकर शिशु के शरीर पर तीन बार फिरा दिया। उसका ज्वर तत्काल उतर गया।

यह कहते कहते मेम की आँखों से टप टप करके अश्रुपात होने लगा। इसके बाद वे बोलीं, "क्षमा कीजिएगा, मैंने आपका बहुत-सा समय बरबाद किया।"

माँ ने कहा, "नहीं, नहीं, तुम्हारे साथ बातें करके मुझे बड़ा आनन्द हुआ। तुम किसी मंगलवार के दिन आना।" मेम ने प्रणाम करके विदा ली।

योगीन-माँ की पीठ में फोड़ा हुआ है। उस पर शल्यक्रिया हुई है। माँ कह रही हैं, "अहा! आज के दिन योगीन पड़ी रही! उसकी कितना कुछ करने की इच्छा थी, परन्तु एक बार इस कमरे में आ तक नहीं सकी।" मुझसे उन्होंने पूछा, "तुम योगीन के पास जा रही हो न! कहना – मैं थोड़ी ही देर में आ रही हूँ।" योगीन-माँ को देखकर माँ के पास लौटने पर मैंने पाया कि श्रीमान प्रियनाथ उन्हें प्रणाम कर रहे हैं। माँ ने उनकी ठुड्ढी को स्पर्श किया। प्रियनाथ की आँखों तथा सीने की हड्डी पर भयानक खरोंच आयी है, पट्टियाँ बँधी हुई हैं। उसे देखकर माँ बड़ी चिन्तित होकर बारम्बार कह रही हैं, "अहा, भाग्य से आँख खराब नहीं हुई।" मेरे लौटने का समय हो चुका था। थोड़ी देर बाद प्रणाम करके विदा माँगने पर माँ ने कहा, "फिर आना।"

शनिवार, लक्ष्मीपूजा का दिन

सबेरे हम दोनों बहनें माँ के श्रीचरणों का दर्शन करने गयी थीं। सुमति के बच्चे भी साथ गये थे। माँ मन्दिर में बैठी फल काट रही थीं। देखते ही बोलीं, "सभी आये हो! बैठो, कब आये?"

मैंने कहा, "महाष्टमी के दिन रात में ही लौट गयी थी, फिर कल रात आयी हूँ।"

माँ – इस बार क्या रहना होगा?

मैं – नहीं, माँ।

माँ ने सुमति से कहा, "बहू, अच्छी तो हो न? तुम्हारी जेठानी अब कैसी हैं?"

दो महिलाएँ दीक्षा लेने आयी हैं। उनके आकर प्रार्थना करते ही माँ ने कहा, "हाँ, और भी दो लड़के हैं।" कहते कहते एक अन्य महिला आकर बोलीं कि वे भी दीक्षा लेने आयी हैं। माँ ने कहा, "तब तो बहुत हो गये, जी।"

सुमति ने स्वप्न में देखा था कि वह माँ की चण्डी-ज्ञान से पूजा करते हुए उन्हें लाल किनारी की साड़ी दे रही है। वही देने की सोचकर वह साड़ी ले आयी है, परन्तु लज्जावश उनसे बोल नहीं पा रही है; कहती है, "दीदी, तुम्हीं कहो।" मेरे यह बात उठाते ही माँ ने हँसते हुए कहा, "जगदम्बा ने ही स्वप्न दिया है, क्या कहती हो बेटी? सो दे दो, साड़ी तो पहननी ही होगी।" चौड़ी लाल किनारीवाली वह साड़ी माँ ने पहनी; उसमें वे क्या ही

सुन्दर सुशोभित हो रही थीं! मैं मुग्ध होकर देखती रही, आँखें छलछला आयीं । सुमति ने कहा, "थोड़ा-सा सिन्दूर भी देने से अच्छा होता ।"

माँ ने हँसते हुए कहा, "तो दे ही दो ।" परन्तु सिन्दूर न ले जाने के कारण दिया नहीं जा सका । हम घर लौटने के लिए प्रणाम कर रही थीं । माँ ने कहा, "तुम भी अभी चली जाओगी?"

मैं – हाँ माँ, जाना होगा । घर में आज थोड़ा अधिक ही भोजन बनाना है ।

माँ – फ़िर आओगी न?

मैं – हाँ, अपराह्न में आऊँगी ।

माँ ने बहुत-से रसगुल्ले ठाकुर को भोग में देकर बच्चों के हाथ में दिया । हम लोगों ने विदा ली । अपराह्न में लक्ष्मीपूजा के कारण नारियल के बने हुए खाद्य-पदार्थ ले गयी थी । उन्हें देखकर माँ ने कहा, "क्यों जी, आज लक्ष्मीपूजन है, इसीलिए लगता है यह सब लायी हो ।" क्रमशः अनेक भक्त-महिलाएँ विविध प्रकार के मिष्ठान्न लेकर माँ के श्रीचरणों का दर्शन करने आयीं । किसी घर से इसके साथ नारियल-चिउड़ा आदि भी आया था । देखकर माँ ने कहा, "किस दिन क्या देना चाहिए, ये लोग सब भलीभाँति जानती हैं ।" संध्या-आरती के बाद ठीक समय पर भोग दिया गया । माँ ने नीचे भक्तों के लिए चिउड़ा-नारियल आदि का प्रसाद भेजा । ऊपर स्थित सभी महिलाओं ने भी प्रसाद ग्रहण किया ।

एक महिला ने लक्ष्मीपूजा के समस्त उपकरण लाकर माँ की चरणपूजा की । बाद में उन्होंने चरणों में चार पैसे रखकर प्रणाम किया । माँ ने हम लोगों से कहा, "अहा ! उसे बड़ा दुख[१] है बेटी, बड़ी गरीब है ।" माँ ने उन्हें आशीर्वाद दिया ।

मैंने माँ से पूछा, "मंगलवार को वे मेम आयी थीं, माँ !"

माँ ने कहा, "हाँ बेटी, आयी थी ।" उस मेम पर माँ की विशेष कृपा है, उन्हें दीक्षा दी है और खूब प्रेम करती हैं । उनकी पुत्री भी ठीक हो गयी है ।

रात हुई देख मैंने प्रणाम करके विदा ली ।

□(क्रमशः)□
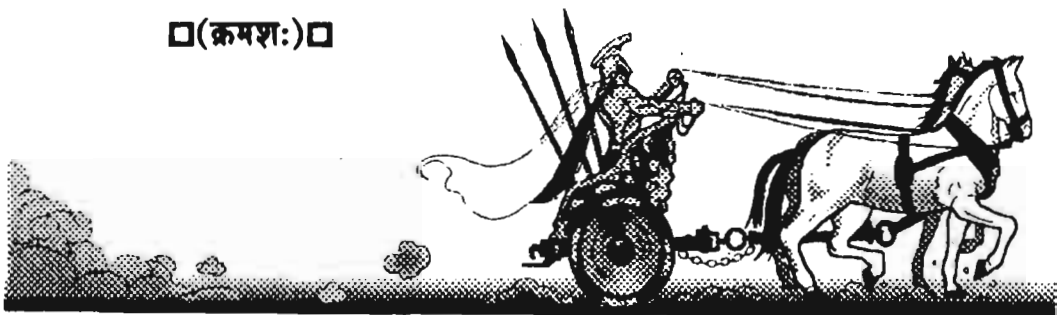
१. उनका इकलौता पुत्र बी. ए. पास करने के बाद पागल होकर कहीं गायब हो गया था । पति भी पुत्र के शोक में प्रायः उन्मादी हो गये थे ।

स्वामी विवेकानन्द के साथ भ्रमण (५)

भगिनी निवेदिता

(इंग्लैण्ड में जन्मीं कुमारी मार्गरेट नोबल ने लंदन में स्वामीजी के व्याख्यान सुने और उनके विचारों से प्रभावित होकर वे भारत आयीं। उन्होंने अपनी एक लघु पुस्तिका में बताया है कि किस प्रकार स्वामीजी ने उन्हें प्रशिक्षण देने के बाद, भारतमाता की सेवा में निवेदित किया। प्रस्तुत है इसी भावभीने विवरण का हिन्दी अनुवाद – सं.)

४. काठगोदाम के मार्ग पर

११ जून। शनिवार के दिन प्रात:काल हम लोगों ने अल्मोड़ा से प्रस्थान किया। काठगोदाम पहुँचने में हमें ढाई दिन लग गये। उष्णकटिबन्धीय घने जंगलों, दल-के-दल बन्दरों और चिर विस्मयकारी भारतीय रातों के बीच से होकर वह यात्रा कितनी सुन्दर थी!

रास्ते में कहीं एक विचित्र-सी पुरानी पनचक्की तथा परित्यक्त लौहभट्ठी के पास स्वामीजी ने धीरामाता को एक किम्वदन्ती सुनाई, जिसके अनुसार उस पर्वतीय अंचल में गन्धर्व-सदृश एक तरह के अशरीरी जीवों का निवास है। उन्हें एक ऐसी सत्य घटना भी ज्ञात थी, जिसमें एक व्यक्ति को पहले उन मूर्तियों का दर्शन प्राप्त हुआ और उसके बाद वह इन जनश्रुतियों से अवगत हुआ।

जंगली गुलाबों का मौसम समाप्ति पर था, परन्तु एक तरह के फूल खिले हुए थे, जो स्पर्श करते ही बिखर जाते थे और भारतीय कविता के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण उन्होंने उस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया।

१२ जून। रविवार को अपराह्न के समय हमने मैदानी भाग के निकट ही एक झील तथा जलप्रपात के ऊपर निर्जन में स्थित एक होटलनुमा स्थान में विश्राम किया। वहीं पर उन्होंने हमारे लिए रुद्र-स्तुति का अनुवाद किया —

असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय।
आविराविर्म एधि, रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं, तेन मां पाहि नित्यम्।

– "असत्य से हमें सत्य की ओर ले चलो, अन्धकार से हमें प्रकाश की ओर ले चलो, मृत्यु से हमें अमृतत्व की ओर ले चलो। हे रुद्र, तुम हमारी आत्मा के माध्यम से प्रकट होओ और अपने करुणामय दक्षिण मुख के द्वारा अज्ञान से सदैव हमारी रक्षा करो।"

'आविराविर्म एधि' – इस अंश का अनुवाद करते समय वे हिचकिचाये और काफी देर तक सोचा कि इसका अनुवाद क्या इस प्रकार होगा – 'हमारे अन्तरतम में आकर हमारा आलिंगन करो'। परन्तु बाद में उन्होंने अपनी उलझन हमारे सामने रखते हुए संकोचपूर्वक कहा, "इसका वास्तविक अर्थ है – 'हमारे भीतर से ही आकर हमसे मिलो'।" उन्हें आशंका थी कि इस असाधारण रूप से गम्भीर अर्थवाला वाक्य सम्भवत: अंग्रेजी में ठीक ठीक व्यक्त नहीं किया जा सकेगा। परन्तु उस दिन अपराह्न के समय हमने जो अर्थ ग्रहण

किया था, बाद में वही मुझे अपनी दृष्टि में अत्यन्त प्रामाणिक प्रतीत हुआ था, क्योंकि जहाँ तक मैं समझती हूँ उसका और भी आक्षरिक अर्थ इस प्रकार होगा, "हे रुद्र, तुम केवल स्वयंप्रकाश हो, परन्तु हमारे समक्ष भी प्रकट होओ।" अब मैं उनके अनुवाद को उनकी समाधिकालीन अनुभूति का ही एक क्षिप्र तथा प्रत्यक्ष अनुलेखन समझती हूँ। यह मानो संस्कृत के सजीव हृदय को चीरकर उसे पुन: अंग्रेजी भाषा के माध्यम से व्यक्त करता है।

वास्तव में वह अनुवादों की ही एक संध्या थी और उन्होंने हिन्दू श्राद्ध अनुष्ठान के अंगीभूत अति सुन्दर मंत्रों में से महान शुभ कामनाओं के कुछ अंश बताए –

मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वौषधीः।
मधुनक्तमुतोषसि मधुमत्पार्थिवग्ं रजः। मधुद्यौरस्तु नः पिता।
मधुमान्नो वनस्पति-र्मधुमाग्ं अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः।
ॐ मधुः ॐ मधुः ॐ मधुः।

– "वायु हमारे लिए मधुमय होकर बहे, समुद्र हम पर मधुमय जल की वर्षा करे, खेतों में मधुमय फसल हो, वृक्ष और पौधे मधुमय हों, पशु हमारे लिए मधुमय हों, हे स्वर्गस्थ पिता! आप हमारे लिए मधुमय हों, पृथ्वी की धूल मधुमय हो।" और फिर "सब मधुमय है, सब मधुमय है, सब मधुमय है"– कहते हुए उनकी आवाज ध्यान में डूबती चली गयी।

इसके बाद नर्तकी द्वारा गाया हुआ सूरदास का यह भजन भी उनसे सुनने को मिला –

प्रभु मोरे अवगुन चित न धरो।
समदरसी है नाम तिहारो, चाहे तो पार करो।।
इक लोहा पूजा में राखत, इक घर बधिक परो।
पारस गुन-अवगुन नहीं चितवत, कंचन करत खरो।।
इक नदिया इक नार कहावत, मैलो नीर भरो।
जब दोऊ मिलि एक बरन भये, सुरसरि नाम परो।।
इक माया इक ब्रह्म कहावत, सूरदास झगरो।
अज्ञान से भेद होवे, ज्ञानी काहे भेद करो।।

सम्भवत: उसी दिन या वह कोई अन्य दिन था, जब उन्होंने हमें वाराणसी के उन वृद्ध संन्यासी के बारे में बताया था, जिन्होंने उन्हें बन्दरों की एक टोली से परेशान किये जाते देखकर और इस भय से कि कहीं वे पलटकर भागने न लगें, चिल्लाते हुए कहा था, "जानवरों का हमेशा सामना करो!"

ये यात्राएँ बड़ी आनन्ददायी थीं और प्रतिदिन डेरे पर पहुँचकर हमें खेद ही होता था। उस समय रेलगाड़ी में बैठकर 'तराई' का मलेरियाग्रस्त भूखण्ड पार करते हुए एक पूरे अपराह्न का समय निकल गया था और स्वामीजी ने हमें स्मरण करा दिया कि यही बुद्ध की जन्मभूमि है। और पहाड़ी पथ से नीचे उतरते हुए हमने देखा कि वर्षा ऋतु के आरम्भ में होनेवाले बुखार के आक्रमण से बचने के लिए मैदानी अंचल के निवासी टोलियाँ बनाकर अपना सारा सामान लिए उच्चतर पहाड़ी अंचलों की ओर पलायन कर रहे हैं। रेलगाड़ी से जाते हुए क्रमश: वनस्पतियों में परिवर्तन दिखायी देने लगा और हमें जंगली मोर, जहाँ-तहाँ

कोई हाथी या ऊँटों की पाँत दिखाकर स्वामीजी को जिस आनन्द का बोध हो रहा था, वह शायद उनके मालिकों को भी नहीं होता।

शीघ्र ही हम ताड़ों के अंचल में आ पहुँचे। पिछले ही दिन हम नागफनियों तथा कटीले पौधों का अंचल पार कर चुके थे और सुदूर अच्छाबल पहुँचने तक हमें पुन: देवदार, चीड़ आदि का दर्शन नहीं होनेवाला था।

५. बारामुला के पथ पर

यात्रीगण – स्वामी विवेकानन्द, उनके गुरुभाई तथा शिष्य, यूरोपियनों की एक टोली जिसमें धीरामाता, जया एवं निवेदिता थीं।
स्थान – बरेली से काश्मीर के बारामुला तक।
काल – १४ से २० जून, १८९८ ई०।

१४ जून। अगले दिन हम पंजाब में प्रविष्ट हुए और स्वामीजी इस पर बड़े आह्लादित थे। इस प्रदेश के साथ उनकी घनिष्ठता एवं प्रीति ऐसी थी, मानो उनका जन्म वहीं हुआ रहा हो। उन्होंने वहाँ की कृषक-बालाओं के बारे में बताया, जो चरखे कातते हुए उससे निरन्तर 'सोऽहं सोऽहम्' की ध्वनि सुना करती हैं। बोलते बोलते विषय बदलकर सहसा वे सुदूर अतीत में चले गये और हमारे नेत्रों के समक्ष वह महान दृश्यावली प्रस्तुत करने लगे, जिसमें यूनानी लोग सिन्धु-नदी के तट पर आगे बढ़ते चले आ रहे थे, फिर चन्द्रगुप्त का आविर्भाव तथा बौद्ध साम्राज्य का विकास हुआ। इस ग्रीष्म ऋतु के दौरान वे अटक जाकर अपनी आँखों से वह स्थान देखने को दृढ़संकल्प थे, जहाँ से सिकन्दर को लौट जाना पड़ा था। उन्होंने हमारे समक्ष गान्धार स्थापत्यकला का वर्णन किया, जिसे अवश्य ही उन्होंने पिछले वर्ष लाहौर के संग्रहालय में देखा होगा और यूरोपवासियों के इस निराधार दावे का खण्डन करने में डूब गये कि कला के क्षेत्र में भारत सदा से ही यूनान का ऋणी रहा है।

इसके बाद बहुत देर से प्रतीक्षित कुछ नगरों की हल्की-सी झलक मिली; लुधियाना – जहाँ उनके कुछ विश्वस्त अंग्रेज शिष्यों का बचपन बीता था; लाहौर – जहाँ उनके भारतीय व्याख्यानों का समापन हुआ था, आदि आदि। हम लोग अनेक सूखी नदियों की कंकरीली तटभूमि के ऊपर से होकर गुजरे और सुना कि दो नदियों के बीच के भूभाग को दोआब कहते हैं और उन सभी को मिलाकर ही पंजाब बना है। गोधूलि के समय इन्हीं में से किसी पहाड़ी अंचल को पार करते समय उन्होंने हमें वर्षों पूर्व हुए अपने उस अपूर्व दर्शन के बारे में बताया। तब उन्होंने हाल ही में संन्यासी का जीवन अपनाया था और परवर्ती काल में सदैव ही उनका विश्वास रहा कि इस दर्शन के माध्यम से ही उन्हें संस्कृत मंत्रों के आवृत्ति की प्राचीन पद्धति पुन: प्राप्त हुई थी।

उन्होंने बताया, "संध्या का समय था; यह उस युग की बात है, जब आर्यगण बस सिन्धु नदी तक ही पहुँचे थे। मैंने देखा कि एक वृद्ध उस विशाल नदी के तट पर बैठे हुए हैं। अन्धकार की तरंगों-पर-तरंगें आकर उन पर पड़ रही हैं और वे ऋग्वेद की आवृत्ति किये जा रहे हैं। तभी मेरी तन्द्रा भंग हो गयी और मैं भी आवृत्ति करने लगा। ये वही सुर थे, जिनका हम अत्यन्त प्राचीन काल में उपयोग करते थे।"

कई महीनों बाद श्रोताओं में से एक ने स्वामीजी के मुख से पुन: इसी दर्शन की बातें सुनीं और इस बीच उनकी विचार-प्रणाली के साथ घनिष्ठतर परिचय हो जाने के कारण उसे लगा कि अपरोक्ष अनुभूति की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है । सम्भवत: स्वामीजी को इस दर्शन ने यही सूचित किया था कि अतीन्द्रिय जगत की आध्यात्मिक अनुभूतियों के बीच जो एक तारतम्य रहा करता है, हजारों वर्षों के व्यवधान तथा जीवनसूत्र के प्रतिक्षण विच्छेद होते रहने के बावजूद उसमें कोई व्यतिक्रम नहीं होता । यदि ऐसा ही हो, तो कोई भी इस विषय में उनसे विस्तारित वर्णन की आशा नहीं कर सकता, क्योंकि जो लोग अपने अतीत जीवन की कल्पनाओं में ही खोये रहते हैं, उन्हें वे सदा तिरस्कार की दृष्टि से देखा करते थे । परन्तु अब दूसरी बार इस घटना का वर्णन करते समय उन्होंने एक बिल्कुल ही भिन्न दृष्टिकोण से इसका आभास दिया था ।

वे बोले, "शंकराचार्य ने वेदों की लय को, राष्ट्रीय आरोह-अवरोह को पहचाना था । सचमुच ही मैं सदैव यह कल्पना किया करता हूँ" – कहते कहते सहसा उनकी दृष्टि कहीं दूर जा टिकी और वाणी आवेगपूर्ण हो उठी, "मैं सदैव यह कल्पना किया करता हूँ कि बचपन में उन्हें भी मेरी ही भाँति कोई-न-कोई दिव्य अनुभूति अवश्य हुई होगी; और तब उन्होंने उस पुरातन संगीत का इस प्रकार पुनरुद्धार किया होगा । जो भी हो, उनके समस्त जीवन का कार्य वेदों तथा उपनिषदों की सुषमा के स्पन्दन के सिवा और कुछ भी नहीं है ।"

वैसे उनकी दृष्टि में इस तरह की उक्तियाँ पूर्णत: कल्पनाप्रसूत थीं और ऐसे भावावेग के क्षणों में वे सहसा जिन मतवादों को व्यक्त कर डालते थे, उनका बाद में याद दिलाया जाना उनके लिए असह्य था; परन्तु दूसरों को वे बहुधा मूल्यवान ही प्रतीत होते थे ।

सुदूर पश्चिम में उनके एक प्रशंसक ने कहा था, "विवेकानन्द यदि बन्धनों को तोड़क नहीं, तो कुछ भी नहीं हैं ।" और उस दिन की यात्रा के दौरान हुई एक छोटी-सी घटना से इस उक्ति का स्मरण हो आया । पंजाब में प्रवेश करते ही एक स्टेशन पर उन्होंने एक मुसलमान खाद्य विक्रेता को बुलाकर उससे कुछ खरीदकर खाया ।

रावलपिण्डी से मरी तक हम लोग तांगे में गये और काश्मीर जाने के पूर्व वहाँ कई दिन निवास किया । यहीं पर स्वामीजी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यदि उन्हें किसी यूरोपीय को परम्परावादियों के बीच गुरुभाई के रूप में स्वीकार कराना या स्त्री-शिक्षा की दिशा में कार्य कराना हो, तो इसके लिए प्रयास बंगाल से ही आरम्भ करना उचित होगा । पंजाब में विदेशियों के प्रति अविश्वास इतना प्रबल था कि वहाँ ऐसे कार्य में सफलता की कोई सम्भावना नहीं थी । बीच बीच में यही समस्या उनके मन पर अधिकार कर लेती और कभी कभी वे इस विरोधाभास पर बोल उठते कि राजनीति के विषय में बंगाल अंग्रेजों का विरोधी है, तथापि उन लोगों के प्रति उसका विश्वास तथा प्रेम है ।

बुधवार (१५ जून) के दिन अपराह्न में हम मरी पहुँच गये थे । और १८ जून को फिर वह एक शनिवार का ही दिन था, जब हमने काश्मीर के लिए प्रस्थान किया ।

१८ जून । हमारी टोली का एक सदस्य बीमार था और उस पहले दिन हम थोड़ी दूर ही चलकर सीमा के पार स्थित दुलाई के पहले डाकबंगले में ही ठहर गये । एक धूप से तप्त धूलभरी पुलिया को पार करके अंग्रेजशासित भारत को पीछे छोड़ आना एक विचित्र

क्षण था । परन्तु हमें बहुत शीघ्र ही इसकी स्पष्ट अनुभूति होनेवाली थी कि यह सीमा-निर्धारण कितना और कितना कम अर्थ रखता है ।

हम लोग अब झेलम की घाटी में थे । कोहला से बारामूला तक की हमारी पूरी यात्रा इसी नदी की तेजी से उठती हुई घाटी में एक सँकरे तथा टेढ़े-मेढ़े पहाड़ी दर्रे के बीच से हुई थी । यहाँ दुलाई में उसकी धारा अत्यन्त तीव्र थी और वहाँ जलधार से सुडौल हुए पत्थरों के ढेर का एक स्तूप-सा विद्यमान था ।

दुलाई में एक आँधी के कारण पूरे अपराह्न का समय हमें घर में ही बिताना पड़ा और इस प्रकार हमारे लिए हिन्दूधर्म विषयक ज्ञानप्राप्ति का एक और अध्याय खुल गया, क्योंकि स्वामीजी ने गम्भीरता एवं स्पष्टता के साथ इसकी अधोगति की बात हम लोगों से कही और उसमें वामाचार के नाम से प्रचलित कुरीतियों के प्रति अपना हार्दिक विरोध प्रकट किया ।

जब हमने पूछा कि किसी की भी आशा पर तुषारपात न करनेवाले श्रीरामकृष्ण इन चीजों को किस दृष्टि से देखते थे, तो उन्होंने हमें बताया कि 'वृद्ध' ने कहा था, "ठीक है, ठीक है! प्रत्येक घर में एक मेहतर के आने का द्वार हो सकता है!" और वे बोले कि प्रत्येक देश के आसुरी सम्प्रदाय इसी श्रेणी में आते हैं । इस तथ्य की जानकारी भयानक, परन्तु आवश्यक थी और इसका इसलिए यहीं वर्णन किया जा रहा है ताकि कोई यह न कह सके कि स्वामीजी ने अपने देश के एक निन्दनीय श्रेणीविशेष या उनके मतवाद के विषय को अपने सरल तथा विश्वासी भक्तों से छिपाकर उन्हें धोखा दिया ।

१९ जून । हमने बारी बारी से स्वामीजी के साथ तांगे में यात्रा करने की व्यवस्था की थी और अगला दिन मानो उनके अतीत की स्मृतियों से पूर्ण रहा ।

उन्होंने ब्रह्मविद्या – एकत्व और अखण्ड तत्त्व की सत्यता पर चर्चा करते हुए बताया कि प्रेम ही बुराई की एकमात्र औषधि है । उनका एक सहपाठी था, जो बड़ा होकर धनवान तो हुआ, परन्तु अपना स्वास्थ्य खो बैठा । उसे कोई दुर्बोध्य बीमारी हो गयी थी, जो दिन-पर-दिन उसकी प्राणशक्ति को क्षीण करती जा रही थी और चिकित्सकों की निपुणता उसके सामने असहाय थी । जब सब कुछ असफल हो जाता है, तो लोग धर्म की ओर मुड़ते हैं और वह जानता था कि स्वामीजी सदा ही एक धर्मप्राण व्यक्ति रहे हैं, आखिरकार हारकर उसने स्वामीजी को सन्देश भेजकर आने का अनुरोध किया । आचार्यदेव के वहाँ जाने पर एक बड़ी विचित्र घटना हुई । उनके मन में उपनिषद् का एक वाक्य आया –

ब्रह्म तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद – जो स्वयं को ब्राह्मण से भिन्न जानते हैं, ब्राह्मण उन्हे परास्त कर देते हैं; जो स्वयं को क्षत्रिय से भिन्न जानते हैं क्षत्रिय उन्हें परास्त कर देते हैं और जो स्वयं को समस्त लोकों से भिन्न जानते हैं, समस्त लोक उन्हें परास्त कर देते हैं ।"[१] और रोगी इसका अर्थ समझकर नीरोग हो गया । स्वामीजी ने आगे कहा, "इसलिए भले ही मैं बहुधा तुम लोगों को विचित्र या नाराजगीपूर्ण बातें कहता हूँ, परन्तु याद रखना कि मेरे हृदय में प्रेम का प्रचार करने के अतिरिक्त अन्य कोई भी भाव नहीं है । जब हमें यह बोध होगा कि हम आपस में प्रेम करते हैं, तो सब कुछ ठीक हो जायगा ।"

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद्, ४/५/७

सम्भवत: उसी दिन, या फिर पिछले दिन महादेव की चर्चा करते हुए उन्होंने हमें बताया कि किस प्रकार उनके बचपन में उनकी माँ उनकी शैतानी पर हताश होकर कहतीं, "मैंने इतनी प्रार्थना तथा तपस्या की और शिवजी ने एक पुण्यात्मा की जगह तुझे भेज दिया!" क्रमश: सम्मोहित होकर वे स्वयं को शिवजी का एक भूत ही समझने लगे । उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि दण्ड के रूप में उन्हें कुछ काल के लिए शिवलोक से बहिष्कृत कर दिया गया है और वहाँ लौट जाने का प्रयास ही उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य होगा । एक बार उन्होंने हमें बताया कि पाँच वर्ष की आयु में उन्होंने जीवन में पहली बार आचार की मर्यादा का उल्लंघन किया था । उस दिन भोजन करते समय उनका दाहिना हाथ जूठा होने के कारण बाएँ हाथ से पानी का गिलास उठाना ही अधिक स्वच्छता का कार्य होगा – इस बात पर उनका अपनी माता के साथ तुमुल वाद-विवाद हुआ । ऐसे अनाचार तथा अन्य प्रकार की दुष्टता से निपटने का उनकी माता के पास एक ही अमोघ नुस्खा था । वे उन्हें पानी की टोंटी के नीचे बैठाकर उनके सिर पर ठण्डा पानी डालते हुए 'शिव! शिव!' कहने लगतीं । स्वामीजी ने बताया कि उनका यह उपाय कभी निष्फल नहीं गया । नाम का यह उच्चारण उन्हें अपने निर्वासन की याद दिला देता और वे स्वयं से कह उठते, "नहीं, नहीं, अब दुबारा नहीं !" और इतना कहकर वे शान्त तथा आज्ञाकारी बन जाते ।

महादेव के प्रति उनके हृदय में असीम प्रेम था और एक बार उन्होंने भारत की भावी नारियों के विषय में कहा था कि यदि वे अपने नये नये कर्तव्यों के दौरान केवल बीच बीच में स्मरण करके "शिव! शिव!" ही कहा करें, तो यही उनके लिए यथेष्ट पूजा होगी । उनके लिए हिमालय की हवा तक उसी अनादि अनन्त की चिर 'ध्यानमूर्ति' से ओतप्रोत थी, जिसे सुख का कोई भी भाव विचलित नहीं कर सकता था; और उन्होंने बताया कि इसी ग्रीष्म ऋतु के दौरान उन्हें पहली बार उस भौगोलिक कथा का तात्पर्य समझ में आया, जिसमें गंगा के महादेव के मस्तक पर गिरकर मैदानी अंचल में उतरने के पूर्व उनकी जटाओं में इधर-उधर संचरण करने का उल्लेख है । वे काफी दिनों से यह जानने को उत्सुक थे कि पर्वतों से होकर बहनेवाली नदियों तथा जलप्रपातों से कैसी ध्वनि निकलती है और अन्तत: उन्होंने पाया कि वह 'हर हर बम बम' की वही चिरध्वनि थी । शिव के प्रसंग में एक दिन वे बोले, "महादेव शान्त, सुन्दर तथा मौन हैं और मैं उनका परम भक्त हूँ ।"

एक अन्य समय उनका विषय था – विवाह किस प्रकार जीवात्मा का परमात्मा के साथ सम्बन्ध का द्योतक है । उन्होंने जोर देकर कहा, "इसीलिए यद्यपि माता का प्रेम किन्हीं मायनों में इससे महत्तर है, तथापि पूरा जगत स्त्री-पुरुष के प्रेम को ही आदर्श मानता है । अन्य किसी भी प्रकार के प्रेम में इस प्रकार की आदर्शवादी शक्ति नहीं है । उसमें प्रेमास्पद की जैसी कल्पना की जाती है, वह वास्तव में वैसा ही हो जाता है । यह प्रेम ही प्रेमास्पद को रूपान्तरित कर देता है ।"

बाद में बातचीत के दौरान राष्ट्रीय आदर्श का प्रसंग उठने पर स्वामीजी उस आनन्द के बारे में बताने लगे, जिसके साथ परदेश से लौटता हुआ यात्री अपने गाँव के नर-नारियों का अभिवादन करता है । जीवन भर मनुष्य अज्ञात रूप से ऐसी शिक्षा प्राप्त करता रहता है, जिससे वह चेहरे व आकृति में प्रकट होनेवाली हल्की-सी अभिव्यक्ति को समझ लेता है ।

पथ चलते चलते पुन: हमारी भेंट पैदल संन्यासियों की एक टोली से हुई । उनका कृच्छ्रानुराग देखकर स्वामीजी इस कठोर तपस्या को 'बर्बरता' कहकर उसकी तीव्र समालोचना करने लगे । भारतवर्ष की यह विशेषता है कि यहाँ केवल धर्मजीवन ही अपने विषय में पूर्णत: सचेत तथा विकसित है । ये लोग जितने कष्ट स्वीकार कर रहे थे, सम्भवत: दूसरे देशों के लोग व्यवसाय, उद्योग या यहाँ तक कि खेलों में सफलता प्राप्त करने के लिए किया करते हैं । परन्तु यात्रीगण अपने आदर्श के नाम पर धीरे धीरे कोस-पर-कोस रास्ता पार कर रहे थे और इस दृश्य से उनके मन में कष्टदायी स्मृतियाँ उदित हुईं और जनसाधारण की ओर से वे 'धर्म के उत्पीड़न' पर अधीर हो उठे । बाद में वह भाव जैसे सहसा आया था, वैसे ही चले जाने पर उसकी जगह उनके मन में यह धारणा आकर ठीक उसी प्रकार दृढ़ हो गई कि इस 'बर्बरता' के न रहने पर विलासिता ने आकर मनुष्य को उसके सम्पूर्ण मनुष्यत्व से वंचित कर दिया होता ।

उस दिन शाम को हम लोग उड़ी के डाकबँगले में ठहरे और गोधूलि के समय चरागाहों तथा बाजार में टहलने को निकले । अहा, वह स्थान क्या ही सुन्दर था! पगडण्डी से लगा हुआ मिट्टी का छोटा-सा किला – ठीक यूरोपीय सामन्ती ढंग का और उसके किंचित बाद ही उन्मुक्त आकाश के नीचे क्रमश: उठती हुई खेतों व पहाड़ियों की श्रेणी । नदी के ऊपर सड़क के किनारे किनारे बाजार था और हम जिस पथ से डगबँगले को लौटे, वह खेतों से होकर जिन कुटीरों के पास से गुजर रहा था, उनके उद्यानों में गुलाब खिले हुए थे । हमारे आते समय यत्र-तत्र कुछ साहसी बच्चों ने हमारे साथ क्रीड़ा आदि भी की ।

२० जून । अगले दिन दर्रे के सर्वाधिक सुन्दर मार्ग पर चलकर गिरजाघर की आकृति-वाले पहाड़ों तथा एक प्राचीन सूर्य मन्दिर के अवशेष देखते हुए हम बारामुला पहुँचे । ऐसी किम्वदन्ती है कि काश्मीर की घाटी कभी एक विशाल सरोवर थी और यहीं पर भगवान वराह ने अपने दन्ताघात से पर्वतों में छेद करके झेलम को प्रवाहित किया था । यह भी पुराणकथा के रूप में एक भौगोलिक तथ्य है । या फिर कहीं यह एक प्रागैतिहासिक सत्य तो नहीं है?

□(क्रमश:)□

विश्व का प्रयोजन

निराशावाद और आशावाद - दोनों ही गलत हैं । दोनों ही अतिवादी दृष्टिकोण हैं । ... यह संसार न तो अच्छा है, न बुरा । यह प्रभु का संसार है । अच्छाई और बुराई से परे यह अपने आपमें पूर्ण है । एक परमात्मा की इच्छा अनादि काल से विभिन्न रूपों में अपने आपको अभिव्यक्त कर रही है और अनन्त काल तक यह वैसा करती चली जाएगी । यह विश्व मानो एक विशाल अखाड़ा है, जिसमें हम और आप जैसे अनेक प्राणी आकर मानो व्यायाम करते हैं और अन्तत: शक्तिशाली एवं पूर्ण होकर बाहर निकलते हैं । शायद इस विश्व का प्रयोजन ही यही है ।

— स्वामी विवेकानन्द

विवेक-वाणी

जितेन्द्र कुमार तिवारी

जब तक रहेंगे नभ में, सूरज औ' चाँद-तारे;
तब तक विवेक-वाणी, गूँजेगी जग में सारे ।

भारत की सभ्यता का, उन्नत रहेगा माथा;
गायेगा विश्व इसके, यश की सदैव गाथा;
जीवन सफल बनेगा, इसके सदा सहारे ।
जब तक रहेंगे नभ में, सूरज औ' चाँद-तारे;
तब तक विवेक-वाणी, गूँजेगी जग में सारे ।

माँ सारदा के तप से, यह पुण्य फल मिला है;
श्रीरामकृष्ण-रवि से, जीवन-सुमन खिला है;
सन्मार्ग के प्रदर्शक, स्वामी हुए हमारे ।
जब तक रहेंगे नभ में, सूरज औ' चाँद-तारे;
तब तक विवेक-वाणी, गूँजेगी जग में सारे ।

नर की असीम श्रद्धा, कुण्ठित कभी न होगी;
सद्धर्म-चेतना से, वंचित कभी न होगी;
ज्योतित 'विवेक-ज्योति', हिम्मत कभी न हारे ।
जब तक रहेंगे नभ में, सूरज औ' चाँद-तारे;
तब तक विवेक-वाणी, गूँजेगी जग में सारे ।

सत्य से बड़ा कोई धर्म नहीं

अनुपम द्विवेदी

मानव सभ्यता के विकास के क्रम में, जिन आदर्शों को मानवीय मूल्य के रूप में स्वीकार किया गया है, सत्य उनमें से एक है। सत्य भारतीय ऋषियों की एक अद्‌भुत खोज है, जो कभी आश्रय बनकर, कभी पाथेय बनकर और कभी औषध बनकर रुग्ण मानवता को प्रशस्त पथ की ओर अग्रसर कर रहा है। यह वह महौषध है, जिससे सभी प्रकार के मनोमालिन्य धुल जाते हैं। हमारी भारतभूमि विभिन्न विचारों के उद्‌भव तथा प्रचार के लिए हमेशा से उर्वर रही है। दुनिया के अधिकांश देश और संस्कृतियाँ जब अपने लोगों को पका भोजन और ठीक से कपड़ा भी नहीं पहना पाई थी, तब भी हमारे ऋषि-मुनि सत्य का अन्वेषण करने में तत्पर थे। अपने अन्तरतम की गहराइयों में डूबकर योग-समाधि की उच्चतम अवस्था में पहुँचकर हमारे पूर्वजों ने जिस महान सत्य का साक्षात किया, हमारे उपनिषदों और उसके बाद का विशाल दार्शनिक और धार्मिक वाङ्मय उस सत्य की प्रतिष्ठा करते नहीं अघाता। किसी भी वस्तु की जो देश-काल से निरपेक्ष सत्ता या उसका अपना यथार्थ स्वरूप है, वही सत्य कहलाता है।

शब्द-रचना के हिसाब से 'सत्ता' अर्थवाले 'अस्' धातु के साथ 'शतृ' प्रत्यय लगाने पर 'सत्' शब्द बनता है। पुनश्च 'सत्' शब्द से पाणिनीय सूत्र 'तत्रसाधुः' (४/४/९८) द्वारा 'सतिसाधुः' अर्थात सत् के सम्बन्ध में उपयुक्त को 'सत्य' कहा जाता है। वेदों में प्राकृतिक नियम और सन्तुलन की शाश्वत व्यवस्था को 'ऋत्' शब्द से अभिहीत किया गया है और सत्य भी इसी का पर्याय है। सुप्रसिद्ध 'अमरकोष' में 'सत्यं तथ्यं ऋतम् सम्यक्' – सत्य वचन के ये चार नाम दिये गये हैं। इसी प्रकार 'मेदिनी कोष' में 'सत्यं कृते च शपथे च त्रिसुतद्वति' कहकर 'शपथ' और 'तथ्य' ये दो अर्थ भी स्वीकार किये गये हैं। मौलिक रूप से सत्य एक पारमार्थिक सत्ता का नाम है, जो निर्विशेष, विकाररहित और क्रियारहित है। परन्तु सामान्य बोलचाल की भाषा में यह विशेषण के रूप में अधिक प्रयुक्त होने लगा है। जैसे – सत्य वचन, सत्य आचरण, सत्यव्रत, सत्यसन्ध आदि। चार लोकों में से सत्यलोक पृथ्वी के लोकों में सबसे ऊपर का लोक माना गया है। इसे ब्रह्मलोक भी कहते हैं। संज्ञा के रूप में प्रयुक्त होनेवाला 'सत्य' शब्द कहीं पीपल के वृक्ष का अर्थ रखता है, तो कहीं राम या विष्णु के अनेक नामों से एक नाम के रूप में प्रयोग किया जाता है। नान्दीमुख श्राद्ध को सत्ययुग ही कहा जाता है। सत्य का एक अर्थ पानी भी होता है।

उपनिषदों के तत्वचिन्तन में सच्चिदानन्द स्वरूप परमतत्त्व ही सत्य है, शेष सब असत्य है, परन्तु महाभारतादि ग्रन्थों में सत्य को जीवन-आदर्श के रूप में निरूपित करने का प्रयत्न किया गया है। अनेक ऐसे आख्यान हैं जिनमें सत्य के लिए संघर्ष करते हुए लोगों ने अपनी पत्नी, पुत्र, धन-धान्य, राजपाट और समस्त लौकिक मूल्यों का बलिदान

करते हुए सत्य की रक्षा को अधिक वरीयता दी है। बाद में चलकर तो 'सत्य' वाणी का एक ऐसा विशेषण बन गया, जिसके अभाव में मानो शब्द अपना अर्थ ही खो देते हैं। यथा 'मनुस्मृति' में 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्' के माध्यम से वाणी के दो अलंकरणों में प्रियता से पहले सत्य को स्वीकार किया गया है। सत्य को जीवन के श्रेष्ठ आदर्श के रूप में निरूपित करनेवाले अनेक आख्यान हमारे इतिहास में प्राप्त होते हैं। 'मनुस्मृति' में धर्म के दस लक्षण गिनाये गये हैं, जिनमें सत्य भी एक है।

भारत के बाहर पश्चिमी दुनिया के लोग भी जीवन के चाकचिक्य तथा अन्तहीन अंधी दौड़ से ऊबकर सत्य की खोज करने का प्रयत्न करते रहे हैं। पश्चिम के विद्वानों ने सत्य की इस खोज में प्राक् कल्पना तथा प्रयोग के द्वारा जिस सत्य तक पहुँचने का यत्न किया है, उसने वैज्ञानिक सिद्धान्तों और निष्कर्षों के रूप में दुनियाँ भर में आज अपनी धाक जमा ली है। विविध भौतिक सिद्धान्तों के प्रयोग और निष्कर्ष उसके सूक्ष्मतम स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं, जो बाहर से देखने में वैसा नहीं प्रतीत होता। यथा – बाहर से देखने पर हमें ऐसा लगता है कि सूर्य पृथ्वी की परिक्रमा कर रहा है, परन्तु विभिन्न वैज्ञानिक अनुसन्धानों के द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि उल्टे पृथ्वी ही सूर्य की परिक्रमा करती है। अत: यह आवश्यक नहीं कि जो वस्तु जैसी दिखाई देती है, वही उसका अपना सत्य हो। यहाँ पर इस बात का उल्लेख करना भी उचित होगा कि सत्य के अन्वेषक इन पश्चिमी विद्वानों ने सत्य का अन्वेषण करते हुए एक अन्य महान सत्य की सामग्री जुटा ली है और वह यह कि जिस सृष्टि का जन्म हुआ है, उसका विनाश भी अवश्यम्भावी है। अतएव सत्य के अन्वेषक इन वैज्ञानिकों में इतना विवेक तो अवश्य होना चाहिए कि उन्हें मानवता के विकास के लिए या मनुष्य के वैयक्तिक जीवन को चरमोत्कर्ष तक पहुँचाने के लिए प्रयत्न करना है न कि उसके विनाश की सामग्री जुटाना है।

इसलिए आज के परिपेक्ष्य में 'न हि सत्यात् परो धर्मः' का यही अर्थ समीचीन प्रतीत होता है कि सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। आज हमें चाहिए कि संघर्ष नहीं, सहयोग करें; विध्वंस नहीं, निर्माण करें। महात्मा गाँधी सत्य को परमेश्वर और मानव-सेवा को ही सच्ची ईश्वर-सेवा मानते थे। सभी धर्मों ने आपसी प्रेम को धर्म के सर्वोत्कृष्ट आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया है। अत: आज का सबसे बड़ा सत्य और सर्वोत्कृष्ट धर्म यही है कि पृथ्वी से द्वेषभाव को मिटाया जाय – **माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः**। विश्वबन्धुत्व का भारतीय आदर्श अब अधिक दिनों तक मात्र आदर्श ही नहीं बना रहेगा, बल्कि कल वह यथार्थ होगा। अब तो सम्पूर्ण मानवता के हित को लक्ष्य करनेवाले नियम ही मानव धर्म बन सकते हैं और यही धर्म आज सबसे बड़ा सत्य होगा। ध्यान रहे कि विज्ञान, दर्शन, प्रौद्योगिकी, साहित्य-सृजन और विभिन्न सांस्कृतिक आयाम अब सत्य की कसौटी पर तभी खरे उतरेंगे, जब उनसे पूरी मानवता का, बल्कि प्राणीमात्र का भला हो। अन्यथा जल्दी ही विज्ञान, धर्म, दर्शन और साहित्य आदि के ये मनमोहक आयाम, काल के कराल गाल में विलीन हो जाएँगे और विश्व-चेतना इन्हें सत्य की परिधि से बाहर खदेड़ देगी। □

हमारी शिक्षा (५)

स्वामी निर्वेदानन्द

(पिछले हजार वर्षों की दासता के दौरान भारत की परम्परागत शिक्षा-प्रणाली ध्वस्त हो गयी थी और उसके स्थान पर लॉर्ड मैकाले द्वारा परिकल्पित तथा ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा प्रारम्भ की हुई प्रणाली ही कमो-बेश आज तक चली आ रही है । स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा-विषयक विचारों के आधार पर रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी निर्वेदानन्द जी ने हमारे शिक्षा-सम्बन्धी आदर्शों पर एक लेखमाला लिखी थी, जो संघ के अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के १९२८ ई. के छः अंकों में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुई । बाद में उसके परिवर्धन तथा सम्पादन के उपरान्त उसे एक पुस्तक का रूप दिया गया । १९४५ ई. में प्रथम प्रकाशन के बाद से अब तक यह ग्रन्थ शिक्षा-विषयक एक महत्वपूर्ण कृति बनी हुई है । 'विवेक-ज्योति' में क्रमशः इसका एक अविकल अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है । – सं.)

८. व्यावसायिक प्रशिक्षण

"हमें तकनीकी शिक्षा तथा उन सब चीजों की आवश्यकता है, जिनसे उद्योग-धन्धों का विकास हो, ताकि लोग नौकरी की तलाश में भटकना छोड़कर, अपने लिए यथेष्ट उपार्जन कर सकें और दुर्दिन के लिए कुछ बचाकर भी रख सकें ।" — स्वामी विवेकानन्द

शिक्षा में व्यक्तिगत तथा सामुदायिक – दोनों ही प्रकार के दृष्टिकोणों की आवश्यकता है । प्रत्येक व्यक्ति को उसकी क्षमता के अनुरूप विकसित होने में सहायता की जाय, ताकि वह समुदाय के कल्याण हेतु अपना सर्वश्रेष्ठ योगदान कर सके । साथ ही पूरे समुदाय को एक जीवन्त समष्टि मानना होगा और इसके विभिन्न अंगों के संतुलित विकास की व्यवस्था करनी होगी । शिक्षा की एक सही प्रणाली के ये द्विविध लक्ष्य होंगे ।

आजकल एक समुदाय के लिए सैकड़ों व्यवसायों की आवश्यकता होती है । उन सभी के लिए न तो एक समान शिक्षा की आवश्यकता पड़ती है और न ही एक समान बौद्धिक उपलब्धियों की । एक समुदाय को अपने कल्याण हेतु एक ऐसी शिक्षा-प्रणाली की आवश्यकता होती है, जो उसके विविध जरूरी कार्यों के लिए प्रत्येक व्यक्ति की रुचियों तथा क्षमता के अनुरूप, विभिन्न प्रकार तथा स्तरों के प्रशिक्षण दे सके । दुर्भाग्यवश हमारी वर्तमान व्यवस्था इस केन्द्रीय आवश्यकता से पूर्णत: असम्बद्ध प्रतीत होती है । पूर्वकाल में इस देश में व्यवसायों का चुनाव जाति के आधार पर हुआ करता था और शिक्षा को उसी के अनुसार समायोजित कर लिया जाता था । परन्तु आजकल हमारे समाज में एक महान परिवर्तन आ चुका है । अब हम अपने समाज को श्रमिक वर्ग, मध्य वर्ग तथा सम्पन्न वर्ग के रूप में मोटे तौर पर तीन सामाजिक विभागों के रूप में देखते हैं और उल्लेखनीय बात यह है कि इसका आधार जाति नहीं, अपितु धन है । इन तीन वर्गों में नये नये प्रकार के व्यवसायों का प्रचलन हो रहा है, परन्तु उनके लिए आवश्यक प्रशिक्षण देने का कोई भी समुचित उपाय नहीं किया गया है । कुछ छोटे-मोटे अपवादों को छोड़ दें, तो शिक्षा के नाम पर जो कुछ दिया जाता है, वह एक विशुद्ध किताबी चीज है ।

यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि गाँवों के प्राथमिक तथा माध्यमिक विद्यालय मुख्यत: किसानों तथा दस्तकारों के बच्चों के लिए और उच्चतर विद्यालय तथा कॉलेज मध्यम तथा उच्च वर्ग के बालकों के लिए होते हैं । इन स्कूलों तथा कॉलेजों में भी किसी भी व्यवसाय में विशेषज्ञता हासिल करने की कोई व्यवस्था नहीं है, अपवाद हैं तो चिकित्सा विज्ञान, कानून तथा इंजीनियरी, परन्तु वे भी इतने महँगे हैं कि समाज के निर्धन वर्ग की क्षमता के परे हैं ।

ग्रामीण क्षेत्रों में प्राचीन व्यावसायिक संघ अब भी अपने आनुवंशिक कार्यों से चिपके हुए हैं । परन्तु उनके पास भी ऐसे स्कूल नहीं हैं, जहाँ पढ़कर उनके बच्चे आधुनिक विज्ञान के आलोक में अपने व्यवसायों में सुधार कर सकें । सबसे बुरी बात तो यह है कि जिन प्राथमिक शालाओं में वे अपने बच्चों को भेजते हैं, उनका भी छात्रों की रुचि तथा दृष्टिकोण पर बुरा प्रभाव पड़ता है । उनमें भेजा गया बालक करीब करीब निश्चित रूप से अपना पारम्परिक व्यवसाय खो बैठता है । इन संस्थाओं में दी जानेवाली शिक्षा किसी-न-किसी प्रकार से शारीरिक श्रम के प्रति अरुचि उत्पन्न करती है । शिक्षा की यह प्रक्रिया श्रमिक परिवार के बच्चों को उसके पैतृक व्यवसाय के लिए अधिकाधिक अनुपयुक्त बना देती है ।

इस वस्तुस्थिति में आमूल-चूल परिवर्तन लाना होगा । गाँवों की प्राथमिक तथा माध्यमिक शालाओं में अनिवार्य व्यावसायिक प्रशिक्षण की व्यवस्था करनी होगी । चूँकि कृषि ही भारत के श्रमिक वर्ग का मूल आधार है, अत: वैज्ञानिक कृषि, दुग्ध-उत्पादन तथा कृषि पर आधारित उद्योगों को व्यावसायिक शिक्षा के अनिवार्य विषय बनाये जाने चाहिए । छात्रों के लिए वैकल्पिक विषयों के रूप में विभिन्न हस्तशिल्प[१] के पाठ्यक्रम उपलब्ध हों । वैकल्पिक विषय चुनते समय छात्र को अपने पुश्तैनी व्यवसाय में विशेषज्ञता प्राप्त करने में उत्साहित किया जाना चाहिए, परन्तु अवश्य उसके अथवा उसके संरक्षक की इच्छा के विरुद्ध उस पर कुछ थोपा नहीं जाना चाहिए । ग्रामीण विद्यालयों के ये व्यावसायिक पाठ्यक्रम निश्चित रूप से प्राथमिक प्रकार के हों और छात्रों की आयु तथा क्षमता के अनुसार उसके विभिन्न स्तर हों । ये ग्रामीण विद्यालय मुख्य रूप से औद्योगिक विद्यालय हों और वहाँ बौद्धिक शिक्षा को केवल गौण स्थान ही प्राप्त हो ।

उच्चतर विद्यालय, जो मुख्यत: मध्यम वर्ग के बालकों के लिए होते हैं, उनमें भी उन्नत कृषि, वाणिज्य, बैंकिंग, बीमा, बही-खाते रखना और रासायनिक उद्योग, मोटर मेकैनिक आदि आधुनिक उद्योगों का उच्च स्तरीय प्रशिक्षण दिया जाय । उच्चतर विद्यालय मुख्यत: बौद्धिक हों और व्यावसायिक प्रशिक्षण उनके पाठ्यक्रम का एक गौण अंश हो, ताकि बालक व्यावहारिक कार्यों में रुचि विकसित कर सकें; परन्तु साथ ही इन विद्यालयों में ऐसी भी व्यवस्था हो, जिसके द्वारा वे अपना बौद्धिक कोर्स समाप्त होने के बाद इनमें से एक या अधिक व्यावसायिक कोर्सों का विस्तृत एवं व्यवस्थित प्रशिक्षण प्राप्त कर सकें । अलग से औद्योगिक विद्यालय भी इस उद्देश्य की पूर्ति कर सकते हैं, परन्तु वर्तमान अवस्था में जबकि हाईस्कूल तथा कॉलेजों की शिक्षा ने एक विशिष्ट सम्मान हासिल कर लिया है, उन्हीं

१. बुनाई, चर्मकारी, काष्ठशिल्प, टोकरियाँ बुनना, खिलौने बनाना, लौहकर्म, बर्तन बनाना, राजगीर का काम, सर्वेक्षण, चूल्हों, घड़ियों, साइकिलों, वाद्ययंत्रों तथा अन्य विविध वस्तुओं की मरम्मत का काम

संस्थाओं को औद्योगिक पाठ्यक्रम भी सिखाना चाहिए, क्योंकि इससे छात्रों तथा उनके संरक्षकों की नजर में व्यावसायिक प्रशिक्षण को सम्मान प्राप्त होगा। वर्तमान सरकार द्वारा बहु-उद्देशीय हाईस्कूलों का क्रमश: प्रारम्भ करना निश्चय ही सही दिशा में एक कदम है।

व्यावसायिक प्रशिक्षण के साथ पढ़ाई का इस प्रकार संयोजन अपने आप में ही एक प्रकार का शैक्षणिक महत्व रखता है। यह न केवल मनुष्य की जीविकोपार्जन की क्षमता को बढ़ाता है, अपितु यह उसकी सर्वांगीण उन्नति भी करता है। समझने की शक्ति और उसे कार्यरूप में परिणत करने की शक्ति साथ साथ आनी चाहिए। कुछ न करनेवाले सज्जन विद्वान की धारणा प्राचीन यूनान के 'दासों के मालिक दार्शनिकों' से आयी है। शिक्षा की यहूदी प्रणाली में सिद्धान्त को व्यवहार से जोड़कर एक सर्वांगीण उन्नति की व्यवस्था बनाई गयी थी। उनका तालमुड ग्रन्थ कहता है, "जो व्यक्ति अपने पुत्र को कोई व्यवसाय नहीं सिखाता, वह वस्तुत: उसे चोरी करना सिखाता है।" एल्डस हक्सले कहते हैं, "सेण्ट पॉल केवल एक विद्वान ही नहीं, बल्कि एक तम्बू बनानेवाले भी थे।" पिछले युद्ध के बाद डा. ए. ई. मॉर्गन ने अपने एन्टियोक कॉलेज में एक ऐसी प्रणाली आरम्भ की, जिसमें बारी बारी से अध्ययन के सत्र के बाद 'कारखानों, कार्यालयों, खेतों, और यहाँ तक कि जेलों तथा पागलखानों' में भी कार्य की व्यवस्था थी। सोवियत रूस के कारखानों से जुड़े विद्यालयों में कुछ ऐसी ही प्रणाली का विकास किया गया है।

रोचक तथा उद्देश्यपूर्ण हाथ के कार्य तथा खेलों के द्वारा छात्रों के आँखों, कानों तथा हाथों को प्रशिक्षित करना, न केवल उनकी इच्छाशक्ति तथा क्रियान्वयन की योग्यता बढ़ाता है, अपितु उनकी समझने की नैसर्गिक क्षमता को भी विकसित करता है। इतिहास, भूगोल और यहाँ तक कि साहित्य का भी एक पाठ अत्यन्त रोचक तथा सहज हो जाता है, बशर्ते इसे किसी शारीरिक कर्म या खेल से जोड़कर पाठ्य विषय को किसी उपयुक्त तथा समतुल्य क्रिया में परिणत कर दिया जाय। उदाहरण के लिए आधुनिक 'परियोजना पद्धति' ऐसे समायोजन के शैक्षणिक महत्व को ही रेखांकित करती है।

वस्तुत: जैसा कि सार्जेण्ट रिपोर्ट में लिखा है, "पूरे विश्व के शिक्षाशास्त्रियों द्वारा 'क्रिया द्वारा सीखने' के मुख्य सिद्धान्त अनुमोदित हुए हैं।" हाल के वर्षों में लगता है कि भारत ने भी इस सिद्धान्त के आलोक में केवल बौद्धिक शिक्षा देने की अपनी एकांगी प्रणाली को सुधारने की आवश्यकता का अनुभव किया है और यह एक सुखद लक्षण है। युद्धोत्तर शिक्षा योजना के बाद केन्द्रीय शिक्षा बोर्ड द्वारा बनायी गयी वर्धा योजना नि:सन्देह इसी बात की ओर संकेत करती है।

यहाँ पर हम वर्धा योजना के नाम से सुपरिचित जाकिर हुसैन कमेटी की रिपोर्ट से विस्तारपूर्वक कुछ प्रासंगिक टिप्पणियाँ उद्धृत करते हैं – "छात्रों को किसी उत्पादक कार्य के द्वारा शिक्षा देने के विचार का अनुमोदन करने में आधुनिक शैक्षणिक विचारधारा प्राय: एकमत है। यह प्रणाली सर्वांगीण शिक्षा देने की समस्या का सर्वाधिक प्रभावी दृष्टिकोण माना जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यह वांछनीय है, क्योंकि यह बालक को एक विशुद्ध बौद्धिक तथा सैद्धान्तिक पढ़ाई के उस आतंकपूर्ण तनाव से मुक्त कर देती है,

जिसके खिलाफ उसका सक्रिय स्वभाव सदैव ही एक स्वस्थ विरोध प्रकट करता रहता है। यह अनुभव के बौद्धिक तथा व्यावहारिक तत्वों को सन्तुलित करता है और इसे शरीर तथा मन की समायोजित शिक्षा का एक व्यावहारिक माध्यम बनाया जा सकता है। इसमें बालक सतही अक्षरज्ञान अर्थात छपे हुए पृष्ठों को पढ़ने की क्षमता हासिल नहीं करता, बल्कि उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण – किसी रचनात्मक कार्य के लिए अपने हाथों तथा बुद्धि का उपयोग करने की क्षमता प्राप्त करता है। इसे, यदि किसी को आपत्ति न हो, तो हम 'पूरे व्यक्तित्व की साक्षरता' के रूप में व्यक्त करेंगे।

"सामाजिक दृष्टि से देखें तो शिक्षा में इस प्रकार के व्यावहारिक उत्पादक कार्य प्रारम्भ किया जाय, जिसमें राष्ट्र के सभी बालक भाग ले सकें, और यह शारीरिक तथा बौद्धिक – दोनों ही प्रकार के कर्मियों में हानिकारक तत्त्व के रूप में समान रूप से विद्यमान पूर्वाग्रह की वर्तमान बाधा को तोड़ डालने में सहायक होगा। यह एकमात्र सम्भव उपाय के द्वारा श्रम के प्रति सम्मान तथा मानवीय एकता के प्रति सच्ची निष्ठा का भाव उत्पन्न करेगा, जो असीम महत्व की एक नैतिक उपलब्धि होगी।

"आर्थिक दृष्टि से देखें तो यदि इस योजना को बुद्धिमत्ता तथा कुशलतापूर्वक नियोजित किया जाय, तो यह हमारे कर्मियों की उत्पादक क्षमता में वृद्धि करेगा और उन्हें अपने खाली समय का भी लाभकारी ढंग से उपयोग करने में सक्षम बनायेगा।

"केवल शैक्षणिक दृष्टिकोण से देखें, तो किसी विशेष शिल्प को बच्चों द्वारा प्राप्त किये जानेवाले ज्ञान का अंग बनाकर उन्हें बेहतर सजीवता तथा वास्तविकता प्रदान की जा सकती है। इस प्रकार ज्ञान जीवन से सम्बद्ध हो जायगा और उसके विभिन्न पहलू एक-दूसरे से जुड़ जायेंगे।"

सार्जेण्ट रिपोर्ट का कहना है, "क्रियाओं के निचले स्तर विविध रूप लेंगे, जो क्रमशः स्थानीय परिस्थितियों के उपयुक्त किसी मूलभूत शिल्प या शिल्पों में परिणत हो जायेंगे। जहाँ तक सम्भव होगा, पूरा पाठ्यक्रम सामान्य धारणा के साथ समायोजित किया जायगा। कुशल नागरिकता के लिए केवल पठन, पाठन तथा गणित अपने आप में यथेष्ट साधन नहीं माने जा सकते।" जब इस रिपोर्ट में कहे अनुसार इस देश के सभी बालक-बालिकाओं के लिए आठ वर्ष की अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की राष्ट्रीय व्यवस्था रूपायित हो जायेगी, तो शिक्षा के गुणात्मक तथा परिमाणात्मक सुधार की दिशा में यह एक बहुत बड़ा कदम होगा।[२] इस समय यह मात्र एक परिकल्पना है, परन्तु निःसन्देह एक सही परिकल्पना है। जब तक यह क्रियान्वित नहीं हो जाती, तब तक उस देश की भलाई चाहनेवाले सभी लोगों के लिए इस अध्याय तथा इस पुस्तक में अन्यत्र दिये गये सुझाव एक अन्तिम सूत्र के रूप में विचारणीय होंगे।

□(क्रमशः)□

२. कम-से-कम बालिकाओं की शिक्षा के क्षेत्र में, भारत के कुछ प्रान्तों ने इस दिशा में कदम उठाये हैं।

हाथों की महिमा

भैरवदत्त उपाध्याय

महाभारत के एक आख्यान में शृंगाल-रूपधारी इन्द्र के मुख से व्यासदेव कहते हैं –

अहो सिद्धार्थतां तेषां, येषां सन्तीह पाणयः।
अतीव स्पृहये तेषां, येषां सन्तीह पाणयः॥
पाणिमद्भ्यः स्पृहास्माकं, यथा तव धनस्य वै।
न पाणिलाभादधिको, लाभः कश्चन विद्यते॥ (शान्तिपर्व १८०. ११-१२)

– "अहो, जिनके पास भगवान के दिये हुए हाथ हैं, उन्हीं को मैं कृतार्थ मानता हूँ और उन्हीं के समान सौभाग्य की मैं स्पृहा करता हूँ। जिस प्रकार तुम धन की इच्छा रखते हो, वैसे ही मैं हाथों को पाने की इच्छा रखता हूँ, क्योंकि मेरी दृष्टि में हाथों से बढ़कर दूसरा कोई लाभ नहीं है।"

सूक्ष्मदर्शी कवि की बात कितनी सटीक है? आदिम युग से आज तक मानव जाति की विकास-यात्राओं का इतिहास इस कथन का प्रमाण है। इसमें दो मत नहीं है कि यदि भगवान ने मानव को दो हाथों का वरदान नहीं दिया होता, तो वह आज भी वहीं पर होता, जहाँ पशु है।

लाखों वर्ष पहले हमारे पूर्वज कपि (Ape) जब पेड़ों पर चढ़ते और अपने शत्रुओं पर फल या पत्थर फेंकते, तब ये दोनों हाथ ही आगे बढ़कर इन कार्यों में उनकी सहायता करते थे। आज हमारी रक्षा के लिए ये ही हाथ आगे बढ़ते हैं। प्रागैतिहासिक मानव ने जब सीधे खड़े होकर पृथ्वी पर चलने का अभ्यास कर लिया और जटिलतम कार्यों के सम्पादन में भी सुविधा हो गयी, तब इन दो हाथों का महत्व और भी बढ़ गया। उसने औजारों के निर्माण से लेकर भोजन-वस्त्र, घर और पशुपालन आदि से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर ली। इसके बाद वह वन्य-जीवन से अधुनातन सभ्यता तक अनेक पड़ावों को लाँघता हुआ इस वैज्ञानिक युग के सर्वोच्च शिखर पर जा चढ़ा। उसकी इस सम्पूर्ण यात्रा में इन हाथों ने ही अहम भूमिका निभाई।

हाथों का अर्थ है श्रम और यह श्रम ही प्रकृति के अन्तर में निहित सम्पूर्ण सम्पत्तियों का प्रमुख स्रोत है। श्रम ही पूँजी है। हाथ इस पूँजी के – श्रम के साधन हैं। वे उसके उत्पाद्य हैं क्योंकि श्रम के कारण ही भुजाओं में पेशियों का विकास और पूर्णता का समावेश हुआ है, इसलिए श्रम के बिना हाथों का महत्त्व अधूरा है, अधकचरा है।

हाथ क्षत्रिय हैं। वीरता के पर्याय हैं। पुरुषार्थ के प्रतीक हैं। जितने हाथ, उतने पुरुषार्थ – इसी के आधार पर अनेक हाथों की कल्पना की गई है। इनमें पूजा, रक्षा, दान और सेवा के कारण चारों वर्णों का धर्म समारोपित है। रक्षा के लिए सन्नद्ध इन्हीं दो हाथों ने

अनेक हाथों से मिलकर कठिन-से-कठिन कामों को सरल किया है। समाज का जन्म भी तभी हुआ है, जब कई हाथ एक साथ मिले हैं। हाथों ने हाथों का ग्रहण किया है। इसी पाणिग्रहण संस्कार के हिंडोले पर मनु और श्रद्धा ने मानव-शिशु को वात्सल्य के स्तन से पोषित किया। इसके बाद ही हाथों से निर्मित समाज के पथ पर भाषा और संस्कृति ने अपने कदम रखे हैं। कला और साहित्य की श्रीवृद्धि हुई है।

हाथ मनुष्य को गति देते हैं। गतिशीलता की स्थिति में उसका सन्तुलन बनाते हैं और शैशव की अवस्था में चलन-क्रिया के शिक्षण में सहयोग देते हैं। ये गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ, लहलहाते खेत, कल कल निनाद करती नहरें, रात के अँधेरे को चीरती विद्युत, धड़धड़ाते कारखाने, काली नागिन-सी चमकती डामरी सड़कें, धुँआ उगलती रेलें, मोटरें, जलयान, वायुयान, अजन्ता की गुफाएँ, खजुराहो के मन्दिर, विकासों के चित्र और तानसेन के संगीत – इनका अस्तित्व भला कैसे सम्भव होता? चाँद की धरती, आदम के इस शहजादे के कदम को कैसे चूमती? यह बात आइने की तरह स्पष्ट है कि इन्सान को जो ज्ञान, शक्ति और प्रभुता प्राप्त है, वह इन दो हाथों के कारण हुई है। हाथ हैं, तो सब कुछ है। इसीलिए तो मनुष्य ने पाणिग्रहण-संस्कार की कल्पना की और उसे चरितार्थ कर दिखाया। जब कभी कर्म की कुशलता का उद्घाटन करने में मनुष्य के दो हाथ अक्षम हो रहे हों, तो उसने उसकी पूर्ति की व्यवस्था में नारी के साथ युगल रूप होकर चतुर्भुज रूप साकार कर लिया है। चतुर्भुज विष्णु भी हाथों की दृष्टि से अर्धनारीश्वर हैं। लक्ष्मी के कारण ही चतुर्भुज हैं, इसीलिए वे श्रीकान्त हैं। चतुर्भुज विष्णु को भी कभी श्रीहीन होने पर निराशा के अन्धकारोदधि में त्रस्त होते देखा गया है। सीताजी का हरण हो चुका है, अब तो द्विभुज राम – लक्ष्मण से ही अस्तित्ववान हैं, क्योंकि शेषावतार का उन्हें भरोसा है, परन्तु शक्ति लगने से भाई के मूर्छित होने पर, दो भुजाओंवाले विष्णु भी रुदन कर रहे हैं –"कहो विभीषण, बन्धु-बाहु बिनु करौं भरोसौ काको।" हाथ जिजीविषा के सेतु हैं, काय-नौका की पतवार हैं, मानव-जीवन के लिए दो कवच हैं। विश्व-कल्याण रूपी कामना के उदर से जन्मे दो जुड़वे बच्चे हैं।

इन्हीं दो हाथों की हथेलियों में कैद है, पुरुष का समूचा पौरुष। भुजबल के आगे खण्डित है भाग्य का दर्पण, अवनत है लक्ष्मी का मस्तक और समर्पित है सरस्वती की ज्ञान-सम्पत्ति। इन हाथों में श्रम, ज्ञान और क्रिया की त्रिवेणी का संगम है। इनमें लक्ष्मी, सरस्वती और ब्रह्मा का निवास है। प्रातःकाल इनका दर्शन शुभ है। इसीलिए शास्त्रकार ने इनके दर्शन का निर्देश दिया है –

कराग्रे वसति लक्ष्मीः, करमध्ये सरस्वती।
करमूले स्थितो ब्रह्मा, प्रभाते करदर्शनम्॥
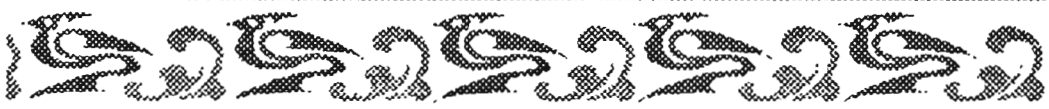
श्रीराम-चरित-कीर्तन

(रामकृष्ण मठ तथा मिशन के प्राय: समस्त शाखा-केन्द्रों में प्रत्येक ५ ..दशी को 'नामरामायणम्' या 'श्रीराम-नाम-संकीर्तन' का गायन होता है, जिसमें सैकड़ों लोग बड़े उत्साहपूर्वक योगदान करते हैं। उत्तरकाशी के एक महात्मा ने इसी से प्रेरणा लेकर गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा रचित 'श्री रामचरितमानस' का एक संक्षिप्त संकलन प्रस्तुत किया है, जिसमें रामायण की पूरी कथा आ गयी है। जिन लोगों के पास 'मानस' के आद्योपान्त पठन या गायन के लिए समय न हो, उनके लिए यह विशेष उपयोगी सिद्ध होगा। - सं.)

ॐ श्रीरामचन्द्राय नमः

१. वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि।
मंगलानां च कर्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ ॥ १/१

२. भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्। १/२

३. सीताराम-गुणग्राम-पुण्यारण्यविहारिणौ।
वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ ॥ १/३

४. उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्। १/४

५. यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्। १/५

६. नानापुराण-निगमागम-सम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति। १/६

प्रार्थना

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरां मे
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च ॥

ॐ श्रीसीता-लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्न-हनुमत्-समेत श्रीरामचन्द्र-परब्रह्मणे नमः।

बालकाण्ड

१. बंदउँ गुरु पद कंज कृपासिंधु नर रूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु बचन रबि कर निकर ॥ (सोरठा) ५

२. जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बन्दउँ सब के पदकमल सदा जोरि जुग पानि। ७ (ग)

३. करन चहउँ रघुपति गुन गाहा, लघु मति मोरि चरित अवगाहा। ८/५

४. एक अनीह अरूप अनामा, अज सच्चिदानन्द परधामा। १३/३

५. व्यापक बिस्वरूप भगवाना, तेहिं धरि देह चरित कृत नाना। १३/४
६. संभु कीन्ह यह चरित सुहावा, बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा। ३०/३
७. द्वारपाल हरि के प्रिय दोउ, जय अरु विजय जान सब कोऊ। १२२/४
८. विप्र श्राप तें दूनउ भाई, तामस असुर देह तिन्ह पाई। १२२/५
९. (दोहा) भए निसाचर जाइ तेइ महाबीर बलवान।
कुम्भकरन रावन सुभट सुर बिजई जग जान॥ १२२
१०. अवधपुरी रघुकुलमणि राऊ, बेद बिदित तेहि दसरथ नाऊँ। १८८/७
११. एक बार भूपति मन माहीं, भै गलानि मोरें सुत नाहीं। १८९/१
१२. निज दुख सुख सब गुरहि सुनायउ,कहि बसिष्ठ बहुबिधि समझायउ। १८९/३
१३. धरहु धीर होइहहिं सुत चारी, त्रिभुवन बिदित भगत भयहारी। १८९/४
१४. (दोहा) विप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार॥ १९२॥
१५. नामकरण कर अवसरु जानी, भूप बोलि पठए मुनि ग्यानी॥ १९७/३
१६. जो आनंद सिंधु सुखरासी, सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥
१७. सो सुखधाम राम अस नामा, अखिल लोक दायक बिश्रामा॥ १९७/६
१८. बिस्व भरन पोषन कर जोई, ताकर नाम भरत अस होई॥
१९. जाके सुमिरन में रिपु नासा, नाम सत्रुहन बेद प्रकासा॥ १९७/८
२०. (दोहा) लच्छन धाम राम प्रिय, सकल जगत आधार।
गुरु बसिष्ठ तेहि राखा लछिमन नाम उदार॥ १९७॥
२१. अनुज सखा सँग भोजन करहीं, मात पिता अग्या अनुसरहीं॥ २०५/४
२२. बिस्वामित्र महामुनि ग्यानी, बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी। २०६/२
२३. देखत जग्य निसाचर धावहिं, करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं॥ २०६/४
२४. गाधितनय मन चिंता ब्यापी, हरि बिनु मरहिं न निसिचर पापी। २०६/५
२५. असुर समूह सतावहिं मोही, मैं जाचन आयउँ नृप तोही॥२०७/९
२६. स्याम गौर सुन्दर दोउ भाई, बिस्वामित्र महानिधि पाई॥ २०९/३
२७. चले जात मुनि दीन्हि देखाई, सुनि ताड़का क्रोध करि धाई॥ २०९/५
२८. एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा, दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा॥ २०९/६
२९. प्रात कहा मुनि सन रघुराई, निर्भय जग्य करहु तुम्ह जाई॥ २१०/१
३०. सुनि मारीच निसाचर क्रोही, लै सहाय धावा मुनिद्रोही॥ २१०/३
३१. बिनु फर बान राम तेहि मारा, सत जोजन गा सागर पारा॥ २१०/४
३२. पावक सर सुबाहु पुनि मारा, अनुज निसाचर कटकु सँघारा॥ २१०/५
३३. धनुषजग्य सुनि रघुकुल नाथा, हरषि चले मुनिवर के साथा॥ २१०/१०
३४. आश्रम एक दीख मग माहीं, खग मृग जीव जंतु तहँ नाहीं॥ २१०/११
३५. पूछा मुनिहि सिला प्रभु देखी, सकल कथा मुनि कहा विसेषी॥ २१०/१२
३६. (दोहा) गौतम नारि श्राप बस उपल देह धरि धीर।
चरन कमल रज चाहति कृपा करहु रघुबीर॥ २११॥
३७. (छं.) परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तप पुंज सही।
देखत रघुनायक जन सुखदायक सनमुख होइ कर जोरि रही॥ २११/१

जेहिं पद सुरसरिता परम पुनीता प्रगट भई सिव सीस धरी।
सोइ पद पंकज जेहि पूजत अज मम सिर धरेउ कृपाल हरी॥
एहि भाँति सिधारी गौतम नारी बार बार हरि चरन परी।
जो अति मन भावा सो बरु पावा गै पतिलोक अनंद भरी॥ २११/४

३८. हरषि चले मुनिबृंद सहाया, बेगि बिदेह नगर निअराया ॥ २१२/४
३९. पुनि मुनिबृंद समेत कृपाला, देखन चलेउ धनुषमख साला॥ २४०/४
४०. गुरहि प्रनामु मनहिं मन कीन्हा, अति लाघवँ उठाइ धनु लीन्हा॥ २६१/५
४१. तेहि छन राम मध्य धनु तोरा, भरे भुवन धुनि घोर कठोरा॥ २६१/८
४२. गावहिं छबि अवलोकि सहेली, सियँ जयमाल राम उर मेली॥ २६४/८
४३. तेहिं अवसर सुनि सिवधनु भंगा, आयउ भृगुकुल कमल पतंगा॥ २६८/२
४४. अति रिस बोले बचन कठोरा, कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा॥ २७०/३
४५. राम कहेउ रिस तजिअ मुनीसा, कर कुठारु आगें यह सीसा॥ २८१/७
४६. सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के, उघरे पटल परसुधर मति के॥ २८४/६
४७. कहि जय जय जय रघुकुलकेतू, भृगुपति गए बनहि तप हेतू॥ २८५/७
४८. आए ब्याहि रामु घर जब तें, बसइ अनंद अवध सब तब तें॥ ३६१/५

श्रीराम जय राम जय जय राम। श्रीराम जय राम जय जय राम॥

अयोध्याकाण्ड

४९. तिभुवन तीनि काल जग माहीं, भूरिभाग दसरथ सम नाहीं॥ २/४
५०. नाथ राम करिअहिं जुबराजू, कहिअ कृपा करि करिअ समाजू॥ ४/२
५१. अस अभिलाषु नगर सब काहू, कैकयसुता हृदयँ अति दाहू॥ २४/७
५२. (दोहा) साँझ समय सानंद नृपु गयउ कैकई गेहँ।
गवनु निठुरता निकट किय जनु धरि देह सनेहँ॥ २४॥
५३. सुनहु प्रानप्रिय भावत जी का, देहु एक बर भरतहि टीका॥ २९/१
५४. मागउँ दूसर बर कर जोरी, पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी॥ २९/२
५५. तापस वेष बिसेषि उदासी, चौदह बरिस रामु बनबासी॥ २९/३
५६. रामु तुरत मुनि बेषु बनाई, चले जनक जननिहि सिरु नाई॥ ७९/८
५७. सीता सचिव सहित दोउ भाई, सृंगबेरपुर पहुँचे जाई॥ ८७/१
५८. बरबस राम सुमंत्रु पठाए, सुरसरि तीर आपु तब आए॥ १००/२
५९. माँगी नाव न केवटु आना, कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना॥ १००/३
६०. जौं प्रभु पार अवसि गा चहहू, मोहि पद पदुम पखारन कहहू॥ १००/८
६१. अति आनंद उमगि अनुरागा, चरन सरोज पखारन लागा॥ १०१/७
६२. (दोहा) पद पखारि जलु पान करि आपु सहित परिवार।
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार॥ १०१॥
६३. तब प्रभु भरद्वाज पहिं आए, करत दंडवत मुनि उर लाए॥ १०६/७
६४. देखत बन सर सैल सुहाए, बालमीकि आश्रम प्रभु आए॥ १२४/५
६५. चित्रकूट रघुनंदनु छाए, समाचार सुनि सुनि मुनि आए॥ १३४/५
६६. कहेउँ राम वन गवनु सुहावा, सुनहु सुमंत्र अवध जिमि आवा॥ १४२/४
६७. सचिव धीर धरि कह मृदु बानी, महाराज तुम्ह पंडित ग्यानी॥ १५०/३

६८. (दोहा) राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर बिरहँ राउ गयउ सुरधाम ॥ १५५ ॥
६९. एतनेइ कहेहु भरत सन जाई, गुर बोलाइ पठयउ दोउ भाई ॥ १५७/३
७०. बेद बिदित संमत सबही का, जेहि पितु देइ सो पावइ टीका ॥ १७५/३
७१. एहि तें मोर काह अब नीका, तेहि पर देन कहहु तुम्ह टीका ॥ १८०/६
७२. (दोहा) आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ।
देखें बिनु रघुनाथ पद जिय के जरनि न जाइ ॥ १८२ ॥
७३. नगर लोग सब सजि सजि जाना, चित्रकूट कहँ कीन्ह पयाना ॥ १८७/७
७४. पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं, भूतल परे लकुट की नाईं ॥ २४०/२
७५. मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी, कबिकुल अगम करम मन बानी ॥ २४१/१
७६. सो अवलंब देव मोहि देई, अवधि पारु पावौं जेहि सेई ॥ ३०७/८
७७. प्रभु करि कृपा पाँवरीं दीन्हीं, सादर भरत सीस धरि लीन्हीं ॥ ३१६/४
७८. साजि बाजि गज बाहन नाना, भरत भूप दल कीन्ह पयाना ॥ ३२०/६
७९. राम मातु गुर पद सिरु नाई, प्रभु पद पीठ रजायसु पाई ॥ ३२४/१
८०. नंदिगाँव करि परन कुटीरा, कीन्ह निवासु धरम धुर धीरा ॥ ३२४/२
८१. श्रीराम जय राम जय जय राम। श्रीराम जय राम जय जय राम ॥

अरण्य काण्ड

८२. अब प्रभु चरित सुनहु अति पावन, करत जे बन सुर नर मुनि भावन ॥ १/२
८३. अत्रि के आश्रम जब प्रभु गयऊ, सुनत महामुनि हरषित भयऊ ॥ ३/४
८४. आगें राम अनुज पुनि पाछें, मुनि बर बेष बने अति काछें ॥ ७/२
८५. उभय बीच श्री सोहइ कैसी, ब्रह्म जीव बिच माया जैसी ॥ ७/३
८६. मिला असुर बिराध मग जाता, आवतहीं रघुबीर निपाता ॥ ७/६
८७. पुनि आए जहँ मुनि सरभंगा, सुंदर अनुज जानकी संगा ॥ ७/८
८८. सो कछु देव न मोहि निहोरा, निज पन राखेउ जन मन चोरा ॥ ८/३
८९. अस कहि जोग अगिनि तनु जारा, राम कृपाँ बैकुंठ सिधारा ॥ ९/१
९०. मुनि अगस्ति कर सिष्य सुजाना, नाम सुतीछन रति भगवाना ॥ १०/१
९१. अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई, प्रभु देखैं तरु ओट लुकाई ॥ १०/१३
९२. जो कोसलपति राजिव नयना, करउ सो राम हृदय मम अयना ॥ ११/२०
९३. एवमस्तु करि रमानिवासा, हरषि चले कुंभज रिषि पासा ॥ १२/१
९४. सुनत अगस्ति तुरत उठि धाए, हरि बिलोकि लोचन जल छाए ॥ १२/९
९५. चले राम मुनि आयसु पाई, तुरतहिं पंचवटी निअराई ॥ १३/१८
९६. (दोहा) गीधराज सैं भेंट भइ बहु बिधि प्रीति बढ़ाइ।
गोदावरी निकट प्रभु रहे परन गृह छाइ ॥ १३ ॥
९७. सूपनखा रावन कै बहिनी, दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी ॥ १७/ ३
९८. पंचवटी सो गइ एक बारा, देखि बिकल भइ जुगल कुमारा ॥ १७/४
९९. (दोहा) लछिमन अति लाघवँ सो नाक कान बिनु कीन्हि।
ताके कर रावन कहँ मनौ चुनौती दीन्हि ॥ १७ ॥

१००. कह लंकेस कहसि निज बाता, केइँ तब नासा कान निपाता ।। २२/२
१०१. खर दूषन तिसिरा कर घाता, सुनि दससीस जरे सब गाता ।। २२/१२
१०२. तेहि बन निकट दसानन गयऊ, तब मारीच कपटमृग भयऊ ।। २७/१
१०३. सून नीच दसकंधर देखा, आवा निकट जती कें बेषा ।। २८/७
१०४. (दोहा) क्रोधवंत तब रावन लीन्हिसि रथ बैठाइ ।
चला गगनपथ आतुर भयँ रथ हाँकि न जाइ ।। २८ ।।
१०५. गीधराज सुनि आरत बानी, रघुकुलतिलक नारि पहिचानी ।। २९/७
१०६. काटेसि पंख परा खग धरनी, सुमिरि राम करि अद्भुत करनी ।। २९/२२
१०७. आश्रम देखि जानकी हीना, भए बिकल जस प्राकृत दीना ।। ३०/६
१०८. आगें परा गीधपति देखा, सुमिरत राम चरन जिन्ह रेखा ।। ३०/१८
१०९. आवत पंथ कबंध निपाता, तेहिं सब कही साप कै बाता ।। ३३/६
११०. ताहि देइ गति राम उदारा, सबरी कें आश्रम पगु धारा ।। ३४/५
१११. पुनि प्रभु गए सरोबर तीरा, पंपा नाम सुभग गंभीरा ।। ३९/६
श्रीराम जय राम जय जय राम । श्रीराम जय राम जय जय राम ।।

किष्किन्धा काण्ड

११२. आगें चले बहुरि रघुराया, रिष्यमूक पर्वत निअराया ।। १/१
११३. को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा, छत्री रूप फिरहु बन बीरा ।। १/७
११४. कोसलेस दसरथ के जाए, हम पितु बचन मानि बन आए ।। २/१
११५. प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना, सो सुख उमा जाइ नहिं बरना ।।२/५
११६. कह सुग्रीव नयन भरि बारी, मिलिहि नाथ मिथिलेसकुमारी ।। ५/२
११७. राम बालि निज धाम पठावा, नगर लोग सब ब्याकुल धावा ।। ११/१
११८. सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी, पावा राज कोस पुर नारी ।। १८/४
११९. पाछें पवन तनय सिरु नावा, जानि काज प्रभु निकट बोलावा ।। २३/९
१२०. कहइ रीछपति सुनु हनुमाना, का चुप साधि रहेउ बलवाना ।। ३०/३
श्रीराम जय राम जय जय राम । श्रीराम जय राम जय जय राम ।।

सुन्दर काण्ड

१२१. अति लघु रूप धरेउ हनुमाना, पैठा नगर सुमिरि भगवाना ।। ५/४
१२२. करि सोइ रूप गयउ पुनि तहवाँ, बन असोक सीता रह जहवाँ ।। ८/६
१२३. रामचंद्र गुन बरनैं लागा, सुनतहिं सीता कर दुख भागा ।। १३/५
१२४. रामदूत मैं मातु जानकी, सत्य सपथ करुनानिधान की ।। १३/९
१२५. कह लंकेस कवन तैं कीसा, केहि के बल घालेहि बन खीसा ।। २१/१
१२६. मातु मोहि दीजे कछु चीन्हा, जैसें रघुनायक मोही दीन्हा ।। २७/१
१२७. चूड़ामनि उतारि तब दयऊ, हरष समेत पवनसुत लयऊ ।। २७/२
१२८. सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं, देखेउँ करि बिचार मन माहीं ।। ३२/७
१२९. कह सुग्रीव सुनहु रघुराई, आवा मिलन दसानन भाई ।। ४३/४
१३०. निज जन जानि ताहि अपनावा, प्रभु सुभाव कपिकुल मन भावा ।। ५०/२
१३१. सरल चरित कहि प्रभुहि सुनावा, चरन बंदि पाथोधि सिधावा ।। ६०/८
श्रीराम जय राम जय जय राम । श्रीराम जय राम जय जय राम ।।

लंकाकाण्ड

१३२. बाँधि सेतु अति सुदृढ़ बनावा, देखि कृपानिधि के मन भावा ।। ४/१
१३३. गहत चरन कह बालिकुमारा, मम पद गहें न तोर उबारा ।। ३५/२
१३४. वीरघातिनी छाड़िसि साँगी । तेजपुंज लछिमन उर लागी ।। ५४/७
१३५. तुरत बैद तब कीन्ही उपाई, उठि बैठे लछिमन हरषाई ।। ६२/२
१३६. नाथ भूधराकार सरीरा । कुंभकरन आवत रनधीरा ।। ६५/२
१३७. तब प्रभु कोपि तीब्र सर लीन्हा, धर ते भिन्न तासु सिर कीन्हा ।। ७१/४
१३८. तासु तेज प्रभु बदन समाना, सुर मुनि सबहिं अचंभव माना ।। ७१/८
१३९. लछिमन मेघनाद द्वौ जोधा, भिरहिं परस्पर करि अति क्रोधा ।। ५४/२
१४०. सुमिरि कोसलाधीस प्रतापा, सर संधान कीन्ह करि दापा ।। ७६/१५
१४१. छाड़ा बान माझ उर लागा, मरती बार कपटु सब त्यागा ।। ७६/१६
१४२. समर भूमि दसकंधर कोप्यो, बरषि बान रघुपति रथ तोप्यो ।। ९३/३
१४३. (दोहा) खैंचि सरासन श्रवण लगि छाड़े सर एकतीस ।
रघुनायक सायक चले मानहुँ काल फनीस ।। १०२ ।।
१४४. डोली भूमि गिरत दसकंधर, छुभित सिंधु सरि दिग्गज भूधर ।। १०३/५
१४५. तासु तेज समान प्रभु आनन, हरषे देखि संभु चतुरानन ।। १०३/९
१४६. सब मिलि जाहु बिभीषन साथा, सारेहु तिलक कहेउ रघुनाथा ।। १०६/३
१४७. राजत रामु सहित भामिनी, मेरु सृंग जनु घन दामिनी ।। ११९/५
१४८. प्रभु हनुमंतहि रहा बुझाई, धरि बटु रूप अवधपुर जाई ।। १२१/१
१४९. भरतहि कुसल हमारि सुनाएहु, समाचार लै तुम्ह चलि आएहु ।। १२१/२
श्रीराम जय राम जय जय राम । श्रीराम जय राम जय जय राम ।।

उत्तरकाण्ड

१५०. (दोहा) आवत देखि लोग सब कृपासिंधु भगवान ।
नगर निकट प्रभु प्रेरेउ उतरेउ भूमि बिमान ।। ४ (क)
१५१. आए भरत संग सब लोगा, कृस तन श्रीरघुबीर बियोगा ।। ५/१
१५२. अमित रूप प्रगटे तेहि काला, जथाजोग मिले सबहि कृपाला ।। ६/५
१५३. सिंघासन पर त्रिभुअन साईं, देखि सुरन्ह दुंदुभीं बजाईं ।। १२/८
१५४. दैहिक दैविक भौतिक तापा, राम राज नहिं काहुहि ब्यापा ।। २१/१
१५५. दुइ सुत सुंदर सीताँ जाए, लव कुस बेद पुरानन्ह गाए ।। २५/६
१५६. दुइ दुइ सुत सब भ्रातन्ह केरे, भए रूप गुन सील घनेरे ।। २५/४ब
१५७. धन्य धन्य मैं धन्य पुरारी, सुनेउँ राम गुन भव भय हारी ।। ५२/९
१५८. (दोहा) गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन ।
बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहिं बेद पुरान ।। १२५ (ख) ।।
१५९. (दोहा) मो सम दीन न दीन हित तुम्ह समान रघुबीर ।
अस बिचारि रघुबंस मनि हरहु विषम भव भीर ।। १३० (क) ।।
१६०. (दोहा) कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम ।। १३० (ख) ।।
श्रीराम जय राम जय जय राम । श्रीराम जय राम जय जय राम ।। □

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(पत्रों से संकलित)

(८२)

ईश्वरोपलब्धि ही मानव-जीवन की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है। एकमात्र मनुष्य-जीवन में ही भगवत्प्राप्ति सम्भव है, इसी कारण मनुष्य-जीवन को श्रेष्ठ कहते हैं। इन्द्रिय-सुखभोगादि तो अन्य योनियों में भी होता है, पर भगवत्प्राप्ति मनुष्य-जीवन को छोड़ और किसी भी जीवन में होने का नहीं। दार्शनिक की भाषा में – "सभी दुखों की निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति ही मनुष्य-जीवन का लक्ष्य है।" परन्तु कहने का तरीका भिन्न होने पर भी, इनमें वस्तुगत कोई भी भेद नहीं है। भक्ति की भाषा में जिन्हें भगवान कहते हैं, योगी उन्हीं को परमात्मा शब्द से अभिहित करते हैं, और ब्रह्मज्ञ पुरुष उन्हीं का ब्रह्म शब्द से निर्देश करते हैं। अतः भगवान-लाभ, ज्ञानलाभ या मुक्तिलाभ तीनों एक ही हैं और निःस्सन्देह यही प्रत्येक जीव अर्थात प्रत्येक मनुष्य का चरम लक्ष्य है। तुम लोग पण्डित और विद्वान हो, अतएव तुम लोगों में यही अवस्था प्राप्त करने की प्रवृत्ति होना अत्यन्त स्वाभाविक तथा समीचीन है।

जो कोई जो कुछ चाहता है, वह वही पाता है – यह प्रकृति का नियम है। आन्तरिक आग्रह तथा आकर्षण रहने पर ही प्रार्थित वस्तु की उपलब्धि होती है। अनुराग होते ही – उन्हें पाए बिना प्राणों पर आ बनती है, ऐसा अनुराग होते ही उनका दर्शन होता है, ऐसा तुमने सुना है। अब जीवन में इसे उतार लेने से ही काम होगा। तद्‌गत-अन्तरात्मा होना चाहिए। ठाकुर कहते थे – "डाइल्यूट (द्रवीभूत) हो जाओ।"

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्‌भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डवः॥ (११/५५)

– हे पाण्डव, जो मेरे लिए ही कर्म करता है, मेरा ही परायण है, मेरा भक्त है, आसक्ति से रहित है तथा सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति वैरभाव से रहित है, वह मुझे ही प्राप्त होता है।

इसमें सन्देह नहीं कि जप-ध्यान आवश्यक है, परन्तु इसकी कोई गारंटी नहीं कि इसके द्वारा उन्हें पाया जा सकेगा। उन्हीं की कृपा के अतिरिक्त उन्हें प्राप्त करने का दूसरा उपाय नहीं है। स्वामीजी कहा करते थे – "यह क्या कोई शाक-भाजी है जो इतनी कीमत देकर खरीद लिया ! भगवान का क्या कोई मूल्य है, जो इतना जप-तप करके उन्हें प्राप्त कर लोगे?" उनकी कृपा होने पर ही उन्हें पाया जा सकता है। उनके दरवाजे पर ठीक ठीक पड़े रहने से उनकी कृपा होती है। मैं यह सब बातें तुम्हें हतोत्साहित करने के लिए नहीं कह रहा हूँ। जप-तप खूब करना, परन्तु सम्पूर्ण हृदय के साथ उनको आत्मसमर्पण कर पाने में ही सबकी सार्थकता है – मेरे कहने का मकसद यही है। उन्हें सब कुछ समर्पित कर निश्चिन्त हो जाओ यही बात कह रहा हूँ। जितना भी सम्भव हो, उनकी ओर बढ़ो। फिर वे ही सब कुछ करा लेंगे। बीच बीच में तुम्हारी कुशलता का समाचार पाकर मुझे आनन्द होगा। मेरी शुभकामनाएँ तथा स्नेहादि स्वीकार करना।

उनके द्वार पर पड़े रहने से वे सारी आशाएँ पूर्ण करते हैं। परन्तु बिना किसी आशा के रह पाने पर वे बहुत आनन्दित होते हैं। "एकमात्र आशा पहचान की लगी है, प्रभु उससे भी करो पार!"[१] – स्वामीजी ने ऐसी ही प्रार्थना की थी।

(८३)

प्रभु को जितना ही अपना समझ सकोगे, उन्हें सन्निकट देखोगे, संसारज्वाला उतनी ही शान्त हो जाएगी, उतने ही विमल सुख और स्वच्छन्दता का अनुभव कर सकोगे। ठाकुर कहा करते थे कि तुम पूर्व की ओर जितना ही बढ़ोगे, पश्चिम उतना ही पीछे छूटता जाएगा। ईश्वर की ओर अग्रसर होने पर संसार अपने आप ही दूर हो जाएगा।

वे तो हृदय में ही हैं, मन का उनके साथ योग कर देने से ही हुआ। वे हमारी आत्मा की आत्मा हैं, प्राण के प्राण हैं, उनकी कृपा से ही हम लोग जीवित रहकर जीवनयात्रा का निर्वाह कर रहे हैं; अतः वे हमारे प्रेम के सर्वप्रथम पात्र हैं। इस तथ्य को न जानने के कारण ही हमारे सारे कष्ट हैं। उन्हें इस रूप में जान लेने से ही सभी दुख दूर हो जाते हैं। मेरी प्रभु से प्रार्थना है कि तुम्हारे हृदय में यही भाव सर्वदा जाग्रत रहे। ऐसा होने पर जीवन धन्य हो जाएगा। गीता में भी भगवान ने शपथ लेकर कहा है कि मेरा ही भजन करो, यही एकमात्र सार है; इस अनित्य और सुखरहित जग में जब आए हो, तो और किसी भी तरफ न ध्यान देकर, केवल मेरा ही भजन करो, तभी बचोगे, अन्यथा निस्तार का दूसरा कोई भी उपाय नहीं है –

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ (गीता ९/३३-३४)

– इस अनित्य तथा दु:खपूर्ण संसार में आकर एकमात्र मेरा ही भजन कर। तू मुझमें मन लगानेवाला, मेरा भक्त, मेरा पूजक और मुझे नमस्कार करनेवाला हो। इस प्रकार मेरी शरण में आया हुआ, तू अपनी आत्मा को मुझमें युक्त करके, मुझे ही प्राप्त होगा।

प्रभु की ऐसी निश्चयपूर्ण अभयवाणी सुनकर भी हम लोग उनकी ओर नहीं देखते, इससे बढ़कर दुर्भाग्य तथा पश्चात्ताप का विषय और क्या हो सकता है ? सुख और दुख कुछ भी चिरस्थायी नहीं है, इसीलिए भगवान दोनों से पार जाने को कहते हैं। यह सिर्फ उनकी ओर दृष्टि रखने से ही होगा, दूसरे किसी भी उपाय से नहीं होगा। अतः हृदय में सदा उन्हीं से प्रेम करना, वे सब ठीक कर लेंगे।

रामं चिन्तय चित्तबर्बर चिरं चिन्ताशतैः किं फलं
किं मिथ्याबहुजल्पनेन सततं रे वक्त्र रामं वद।
कर्ण त्वं शृणु रामचन्द्रचरितं किं गीतवाद्यादिभिः
चक्षू राममयं निरीक्ष सकलं रामात्परं त्यज्यताम्॥

– रे दुष्ट चित्त! सर्वदा श्रीराम का ही चिन्तन किया कर, दूसरी सैकड़ों प्रकार की चिन्ताओं

१. स्वामी विवेकानन्द रचित 'गाता हूँ गीत तुम्हें सुनाने को' शीर्षक कविता से उद्धृत।

से क्या लाभ? अरे मुख, सर्वदा राम का नाम ले, बहुत-सी निरर्थक मिथ्या बातों से क्या लाभ? रे कान, तू सर्वदा रामचरित सुन, गीत-वाद्य आदि सुनकर क्या होगा? रे नेत्र, तू सब कुछ राममय ही देख, राम के अतिरिक्त बाकी सब त्याग दे।

मेरी शुभकामनाएँ आदि स्वीकार करना।

(८४)

आपका पत्र पढ़कर हर्ष और विषाद दोनों ही भावों का उदय हुआ। आपकी सांसारिक भोगसुख की उपेक्षा तथा अनादर देखकर तथा आपकी कर्तव्यनिष्ठा और उसके पालनार्थ आपका हार्दिक प्रयत्न जानकर आनन्द हुआ; और विषाद हुआ आपकी अकारण निराशा, आत्म-तिरस्कार तथा अवसाद देखकर। आत्मश्लाघा अनुचित है अवश्य, पर इसी कारण सर्वदा 'हमारा जीवन वृथा है', 'कुछ भी तो नहीं हुआ' – आदि सोचते हुए अवसादपूर्वक आत्मनिन्दा भी अनुचित है। यद्यपि हमारे प्रभु अभिमान पसन्द नहीं करते थे, परन्तु साथ ही वे दीन-हीन-क्षीण भाव भी सहन नहीं कर पाते थे। वे हमें भगवान के साथ सम्बन्ध जोड़कर उसका अभिमान करने का उपदेश दिया करते थे, और "मैं उनकी सन्तान हूँ, मुझे किसका भय? उनकी कृपा से मैं आसानी से तर जाऊँगा" – आदि वचनों द्वारा खूब दृढ़ता लाने को कहा करते थे। रामप्रसाद के भजनों में भी हर स्थान पर यही भाव विद्यमान है – "जिसकी माँ स्वयं ब्रह्ममयी हैं, वह किससे भयभीत होगा?" यही नहीं वे माँ के साथ झगड़ा करने को भी तैयार हैं। "अब मैं और 'माँ' 'माँ' कहकर नहीं पुकारूँगा" – आदि अनेक भजन हैं जिनमें वे माँ से हठ करते हैं। ठाकुर बारम्बार हमें यही भाव सिखाया करते थे। अतः आपको अपना यह विषाद का भाव त्यागना होगा। आप भी क्या कम हैं ? इतने सारे कार्यों के बीच रहकर भी भगवत्-चर्चा के लिए समय निकाल ही लेते हैं। सारा बचा हुआ समय तो आप उन्हीं को देते हैं। क्या दोपहर और क्या सन्ध्या, सारा समय उन्हीं का तो है। एक क्षण के लिए भी अनन्य भाव से उनकी शरण लेने से जीवन धन्य हो जाता है, पवित्र हो जाता है, समस्त पाप-ताप दूर हो जाते हैं, ऐसा विश्वास होना चाहिए।

'वेदस्तुति' काफी दिनों पूर्व पढ़ी थी, अब अधिक कुछ स्मरण नहीं है। इतना ही याद है कि उसकी भाषा क्लिष्ट थी। अस्तु, यह ठीक है कि देव और गुरु में भक्ति हुए बिना ईश्वर-तत्व में प्रवेशाधिकार नहीं है, परन्तु देव तो हृदय में हैं। वे यदि हृदय में न हों तो उन्हें अन्यत्र कहीं भी पाने की उम्मीद नहीं है। वे ही तो गुरु भी हैं – **मन्नाथो श्रीजगन्नाथो मद्गुरुः श्रीजगद्गुरुः** – जगत् के स्वामी ही मेरे स्वामी हैं और जगत् के गुरु ही मेरे गुरु हैं। (गुरुगीता)

यदि ऐसा न होता तो फिर ऐसे देवता और ऐसे गुरु की कोई खास जरूरत नहीं थी। देवता व गुरु सर्वदा भीतर ही हैं, अन्यथा हम जीवित कैसे रहते ? सर्वदा कौन हमारी रक्षा कर रहा है ? किसकी कृपा से प्राण-धारण हो रहा है ? वे सभी अनुग्रह कर रहे हैं। जो चाहता है वही उनका दर्शन पाता है। यह बिल्ली वन में जाकर वनबिलाव कहलाती है। ये ही

नेत्र, यही त्वचा, ये ही हाथ उन्हें पाकर अलौकिक तथा दिव्य हो जाते हैं। व्यर्थ के शब्द सीखने से कोई लाभ नहीं; परन्तु वे ही सभी शब्दों के आदि, मध्य और अन्तर में अवस्थित हैं, अतः सभी शब्द फलदायक होते हैं। उन्हें प्रकाशित करने के प्रयास में ही शब्द का शब्दत्व है।

श्रीधर स्वामी ने नितान्त सत्य बात कही है। ठाकुर कहा करते थे कि सभी सियारों की एक जैसी आवाज होती है।

ये मानवा विगतरागपरावरज्ञाः नारायणं सुरगुरुं सततं स्मरन्ति।
ध्यानेन तेन गतकिल्बिषचेतनास्ते मातुः पयोधररसं न पुनः पिबन्ति ॥(प्रपन्नगीता, ३)

– जो लोग सभी प्रकार की आसक्तियों से रहित होकर, सगुण एवं निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान से सम्पन्न देवगुरु नारायण का सर्वदा स्मरण करते रहते हैं, ध्यान के द्वारा उनकी चेतना से पापराशि दूर हो जाती है और वे फिर माँ का स्तनपान करने को जन्म नहीं लेते।

उनके चरण पवित्र तथा सर्वव्यापी हैं – 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' – इस जगत के समस्त जीव उनका एक पाद है। (ऋग्वेद, १०/७/९०/३) हम लोग उस चरण के ही आश्रय में हैं। उन चरणों की उपासना को छोड़, हम और किसकी उपासना करेंगे ? उनकी उपासना में हमारा पूरा अधिकार है। वे हमारे 'प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुः' – प्राण के भी प्राण हैं, नेत्रों के भी नेत्र हैं। (केनोपनिषद १/२) अतः हम उन्हीं को अपना मन-प्राण सब समर्पित कर उन्हीं में अवस्थान करें। उन्हें छोड़ दूसरा और कुछ भी देखना न हो। इत्योम्।

भविष्य का धर्म

भविष्य के धार्मिक आदर्शों को समस्त धर्मों में जो कुछ भी सुन्दर और महत्वपूर्ण है, उन सबको समेटकर चलना पड़ेगा और साथ ही भावविकास के लिए अनन्त क्षेत्र प्रदान करना होगा। अतीत में जो कुछ भी सुन्दर रहा है, उसे जीवित रखना होगा और साथ ही वर्तमान के भण्डार को और भी समृद्ध बनाने के लिए भविष्य का विकासद्वार भी खुला रखना होगा। धर्म को ग्रहणशील होना चाहिए और धर्म सम्बन्धी अपने आदर्शों में भिन्नता के कारण एक दूसरे का तिरस्कार नहीं करना चाहिए। ... ईश्वर सम्बन्धी सभी सिद्धान्त - सगुण, निर्गुण, अनन्त नैतिक नियम अथवा आदर्श मानवधर्म की परिभाषा के अन्तर्गत आने चाहिए। और जब धर्म इतने उदार बन जाएँगे, तब उनकी कल्याणकारिणी शक्ति सैकड़ों गुना अधिक हो जाएगी। धर्मों में अद्भुत शक्ति है; पर इनकी संकीर्णताओं के कारण इनसे कल्याण की अपेक्षा हानि ही अधिक हुई है।

– स्वामी विवेकानन्द